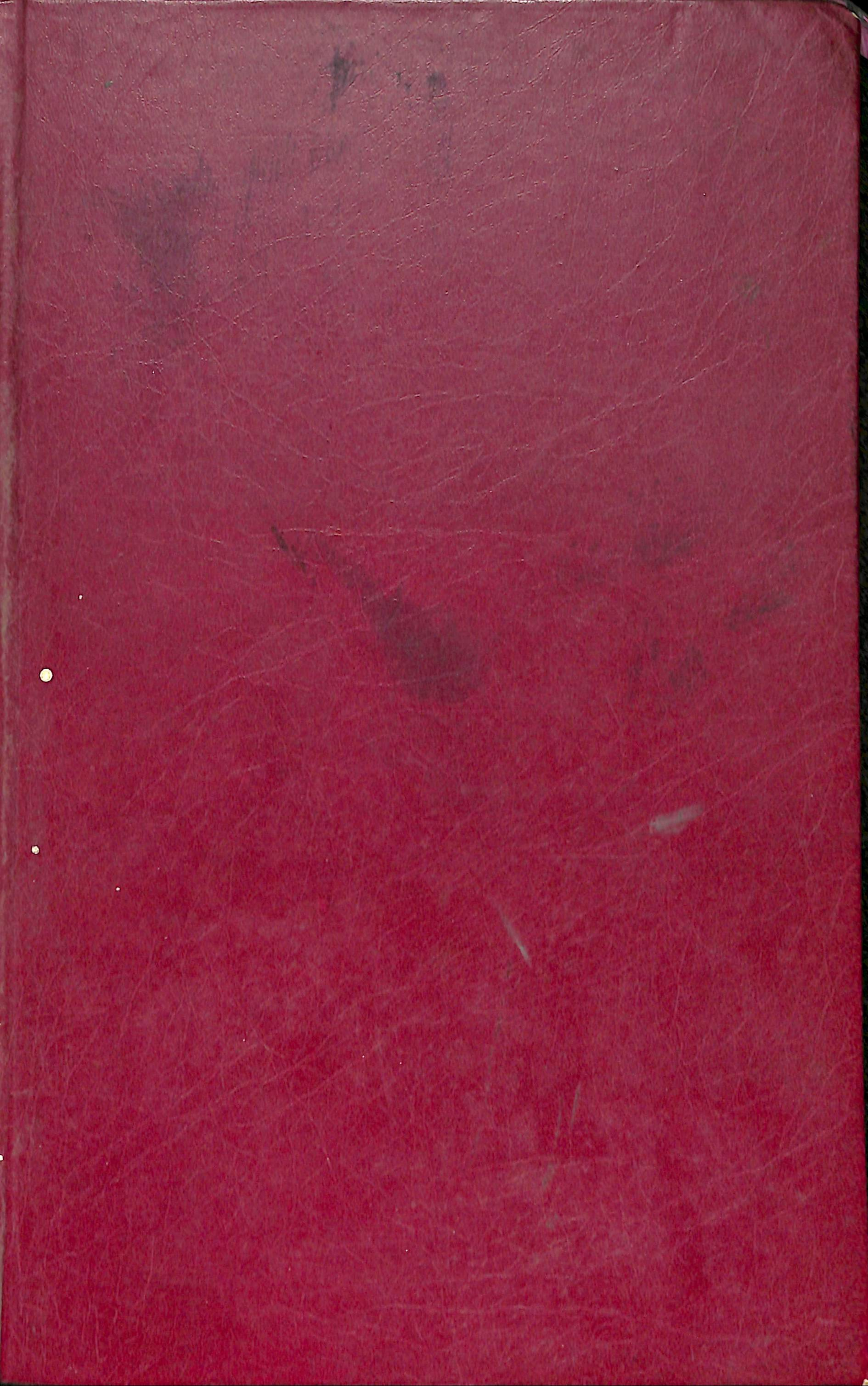


डॉ० सी. ग्रार. स्वामिनाथन ग्रभिनन्दन ग्रन्थ

भारतीय आचार्यों का भाषा-चिन्तन

LINGUISTIC SPECULATIONS BY INDIAN ĀCĀRYAS

Edited by
Dr. PUSHPENDRA KUMAR
READER, DEPTT. OF SANSKRIT,
UNIVERSITY OF DELHI



NAG PUBLISHERS
11A/U.A. Jawahar Nagar, Delhi-7 (India)

© NAG PUBLISHERS

(i) 11A/U.A. (Post office Bldg.), Jawahar Nagar, Delhi-7
(ii) 8A/U.A.-3 Jawahar Nagar. Delhi-110007
(iii) Jalalpurmafi (Chunar-Mirzapur) U. P.

First Edition
1985
Price Rs.  Rs 100/-

Printed In India
Published by Nag Sharan Singh for Nag Publishers,
11 A/U.A. (Postoffice building) Jawahar Nagar, Delhi-110007
and printed at Amar Printing Press, Vijay Nagar, Delhi-9

संस्मरण



डा० सी० आर० स्वामिनाथन स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत प्रगति के सूत्रधार

डा० मण्डन मिश्र
निदेशक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
आचार्य, लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विश्वविद्यालय

डा. सी. आर. स्वामिनाथन से मेरा २५ वर्ष पूर्व परिचय हुआ था। यह २५ वर्षों का इतिहास स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत की प्रगति का उज्ज्वल इतिहास है—जिसके सूत्रधारों में डा० स्वामिनाथन् का अपना एक विशिष्ट स्थान है। मेरा सौभाग्य है कि दक्षिण भारत के विद्वानों से मुझे सहज स्नेह मिला है। मैं उसी पुण्य क्षेत्र के एक आचार्य का विद्यार्थी हूं और उसके बाद भी मेरे विकास में तथा मेरे द्वारा प्राप्त की गई सफलताओं में इस पवित्र प्रदेश के निवासियों का महत्वपूर्ण योगदान है। एक ओर गुरु के रूप में आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री और दूसरी ओर मित्र के रूप में डा० सी० आर० स्वामिनाथन् इन समस्त सफलताओं के मूल पुरोधा हैं। इन सफलताओं में जिस प्रकार गुरु के रूप में आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी की देन के बारे में सारा देश परिचित है, उसी प्रकार मित्र के रूप में डा० सी० आर० स्वामिनाथन के साथ मेरे सम्बन्ध भी सर्वविदित हैं। आश्चर्य तब होता है कि जब कई बार हम दोनों मिलकर भी यह घोषणा करें कि हम किसी एक प्रश्न पर वैमत्य रखते हैं या मेरे सदा यह कहते रहने पर भी कि डा० स्वामिनाथन जी सरकारी प्रतिक्रियाओं के आगे मुझे भी नहीं बकसते हैं, संस्कृत-जगत् का कोई भी व्यक्ति विश्वास नहीं करता। हम दोनों को दो शरीरों में विद्यमान एक आत्मा के युगल के रूप में सब लोग मानते आए हैं और स्वभाव, व्यवहार और कार्यविधि में अन्तर होते हुए भी ईश्वर द्वारा प्रस्तावित अद्वैत के हम दोनों साक्षात् रूप समझे जाते रहे हैं। मैं इसको अपना परम सौभाग्य मानता हूं।

जब मैं राजस्थान से यहां आया और दिल्ली में संस्कृत का काम प्रारम्भ किया, उससे कुछ ही समय पहले डा० सी० आर० स्वामिनाथन

दिल्ली में आए थे। मेरी काम करने की पद्धति से बहुत लोग अधिक आशावान् नहीं थे। कुछ तो ऐसा भी कहते थे जैसे हम कोई निष्ठावान् लोग नही हैं, केवल उत्सव करके स्वार्थ सिद्ध कर जल्दी ही चले जाने वाले हैं। मैं इस बात का गर्व के साथ उल्लेख करता हूँ कि जब हमारे सारे काम और कार्यक्रमों को लोगों ने गम्भीरता से नहीं लिया, तब भी डा. सी. आर. स्वामिनाथन एक ऐसे व्यक्ति थे जो मंत्रालय में बैठ कर हमारा समर्थन करते थे और इसके लिए कई बार लोगों से उनको संघर्ष भी करना पड़ता था— जो परम्परा किसी न किसी रूप में आज तक भी जारी है।

एक आस्तिक और सम्भ्रांत ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर कांची शंकराचार्य जी की छत्र-छाया में जो उदात्त संस्कारों की सम्पति इनको मिली है, ऐसे भाग्यशाली बहुत कम लोग होते हैं। यही कारण है कि लगातार इस बीसवीं शताब्दी में भारत की चकाचौंधमयी राजधानी में रहते हुए भी उनका ब्राह्मणत्व तन मन से अक्षुण्ण रूप में देदीप्यमान है। यह अपने आप में उनके व्यक्तित्व की एक उल्लेखनीय विशेषता है। उनका पांडित्य बहुमुखी है। वेद की विभिन्न शाखाओं के उच्चारण से लेकर कर्म काण्ड की विभिन्न विधाओं, धर्मशास्त्र के मूलभूत सिद्धांतों, शंकर दर्शन के तत्व ज्ञान, विशिष्ट तांत्रिक साधनाओं के परिज्ञान के साथ-साथ मधुर और कोमल रस-सिद्ध कवि के रूप में एक ही व्यक्ति में सब कुछ संगृहीत मिलता है। इस समन्वित और विकसित व्यक्तित्व का ही नाम डा० सी० आर० स्वामिनाथन है। इस प्रकार का इतना अद्भुत समागम बहुत कम देखने को प्राप्त होता है। विद्या की प्राचीन परम्परा के साथ संस्कृत, अंग्रेजी, तमिल, तेलगू, मलयालम और हिन्दी जैसी ही अनेक भाषाओं पर उनका अच्छा अधिकार है। उनके वेद पाठ और उसके बाद अंग्रेजी जैसी भाषा के माध्यम से उसका व्याख्यान श्रोताओं को मंत्र मुग्ध करता है भगवान् ने बड़ा विशाल और भव्य आकार प्रकार भी उनको दिया है और इस दृष्टि से भी वे आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। यह आकर्षण विश्राम ग्रहण तक की आयु में भी सुरक्षित है—यह उनकी भक्तिभावना का प्रतिफल है।

वैसे सामान्य रूप से अधिकारी आते हैं और चले जाते हैं लेकिन बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके बारे में अभिनन्दन ग्रंथ निकलते हैं और विदाई के समय जिनका विशेष सम्मान किया जाता है। उन व्यक्तियों का सेवा काल सामान्य सेवा की तरह नहीं होता, अपितु उससे बढ़कर उनकी निष्ठा और उस दायित्व के प्रति समर्पण की भावना होती है। भारतीय

संस्कृति की यही विशेषता है कि जो कम से कम लेकर अधिक से अधिक दे वह इस राष्ट्र के लिए वन्दनीय होता है। इस दृष्टि से डा० सी० आर० स्वामिनाथन बहुत ही यशस्वी और उल्लेखनीय व्यक्ति हैं। उन्होंने सेवा से अपना निर्वाह तो किया, लेकिन सहस्रों गुणा अधिक संस्कृत को दिया। इसलिए वास्तव में वे हमारे लिए अभिनन्दनीय हैं।

वे सदा एक जीवित जाग्रत अधिकारी रहे हैं। उन्होंने प्रत्येक योजना में प्राणाधान किया। मंत्रालय द्वारा जितने भी कार्यक्रम संचालित थे, उनको तेजस्विता प्रदान की और मंत्रालय में संस्कृत की आवाज को सदा बुलन्द रखा। उनके योगदान के बारे में बहुत कुछ लिखा जा सकता है, लेकिन मैं उनकी विशेष उपलब्धियों में सबसे पहली उपलब्धि यह मानता हूँ कि उनके व्यक्तिगत परिचय और प्रभाव के द्वारा ऐसे क्षेत्रों में संस्कृत को जीवित रखा जहाँ राज्य सरकारें कुछ नहीं कर पा रही थीं। संस्कृत के ऐसे लोगों की सहायता की जो चारों ओर संस्कृत और भारतीय संस्कृति विरोधी वातावरणों से ग्रसित हैं और जिनका कोई आश्रय नहीं है उन्होंने संस्कृत की सेवा और प्रचार प्रसार को सबसे पहला राष्ट्रीय कर्तव्य माना और सांस्कृतिक एकता के लिए संस्कृत की अनिवार्यता पर जो हम भाषण देते हैं, उसको क्रिया में परिणत करने का आजीवन प्रयत्न किया। उनकी दूसरी उपलब्धि वेद संरक्षण कार्यक्रम का प्रवर्त और उसके लिए प्रतिष्ठान स्थापित करने के प्रयासों में सफलता प्राप्त करना है। आज भी इन योजनाओं के अन्तर्गत हम सैकड़ों छोटे-छोटे बटुकों को पारम्परिक पद्धति पर वेद पाठ करते हुए देखते हैं तो ऐसा लगता है कि हमारा प्राचीन गौरव अभी तक सुरक्षित है। उनकी तीसरी उपलब्धि विद्यापीठों को विश्वविद्यालय स्तर प्रदान करने के बारे में उनका प्रस्ताव है जो अब सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लिया गया है और दो केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ और केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति। विश्वविद्यालय का स्तर प्राप्त करने जा रहे हैं। उनकी चतुर्थ उपलब्धि आदर्श विद्यालय योजना का संचालन है—जिसके अन्तर्गत २० के लगभग विद्यालय देश के विभिन्न भागों में काम कर रहे हैं। ये केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों का लघु संस्करण है जो आगे चलकर केन्द्रीयविद्यापीठों के लक्ष्यों की पूर्ति करेंगे। यह एक ऐसा विकल्प है जिसके द्वारा हम बहुत जल्दी प्रत्येक राज्य में पहुंच पायेंगे। उनकी पंचम उपलब्धि शास्त्र चूडामणि योजना का निर्माण है—जिसके अन्तर्गत मूर्धन्य वयोवृद्ध विद्वानों की सेवायें देश के प्रतिष्ठित

विश्वविद्यालयों, विद्यापीठों और महाविद्यालयों को प्राप्त हो रही हैं। जिस प्रकार वेद संरक्षण योजना ने वेद के प्राचीन अध्ययन की रक्षा करने में योगदान दिया है। इस योजना ने प्राचीन वैदुष्य के संरक्षण की ओर भारत सरकार का ध्यान आकृष्ट किया है। उनकी छठी विशेष उपलब्धि दुर्लभ संस्कृत ग्रन्थों के सस्ते मूल्यों पर प्रकाशन उपलब्ध कराना है। इस योजना के अन्तर्गत सौ से अधिक संस्कृत ग्रन्थों की रक्षा और सुलभता होना है जो कि एक प्रकार से संस्कृत के क्षेत्र से दुर्लभ हो गये थे। उनकी सप्तम उपलब्धि साधनहीन संस्कृत विद्वानों की निर्वाह वृत्ति को उनकी विधवाओं तक पहुंचाना है जिसके द्वारा दो हजार के लगभग संस्कृत पंडितों की विधवायें सम्मान के साथ अपना जीवन निर्वाह कर रही हैं।

मैं नहीं समझता कि डा० स्वामीनाथन हम से विदा हो रहे हैं। मैं यह मानता हूं कि शास्त्री भवन से निकलकर एक अधिक शक्तिशाली व्यक्ति के रूप में वे संस्कृत के लिए उपलब्ध होंगे-जो योग्यता, अनुभव और प्रताप उनको संस्कृत से मिला है, उसका अधिक लाभ अब संस्कृत को ही वे देंगे। फिर भी जो सात उपलब्धियाँ उनकी हैं वे सप्तर्षियों की भेंट के रूप में उनके सेवा काल का सदा स्मरण कराती रहेंगी और संस्कृत के अनुरागी इस काल का आदर के साथ स्मरण करते रहेंगे।

डा० स्वामिनाथन् ऐसे हैं—

डा० पुष्पेन्द्र कुमार

सुधी पाठकों के समक्ष 'डा० सी० आर० स्वामिनाथन अभिनन्दन ग्रन्थ' प्रस्तुत करते हुए मुझे बड़ा ही हर्ष हो रहा है। अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् डा० स्वामिनाथन् ने अपने जीवन एवं व्यक्तिगत व्यवहार से भारतीय सरकार के अधिकारी के रूप में संस्कृत विद्या के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इनके निर्देशन से भारत सरकार द्वारा संचालित योजनाएं चलायी गयीं जिनसे संस्कृत विद्वानों को काफी सहायता मिली, तथा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का पुनः प्रकाशन सम्भव हो सका। आपकी शिक्षा-दीक्षा संस्कृत के मूर्धन्य विद्वानों की देख-रेख में हुई। पद्मभूषण पं० पट्टाभि राम शास्त्री, पं० राम शास्त्री, पं० अनन्तकृष्ण शास्त्री, डा० राघवन आपके विद्यादाता रहे हैं। जापान के प्रो० नाकामुरा, फ्रांस के प्रो० फिलिओजा आदि से आप विचार विनिमय करते रहे हैं। मैसर्स नाग पब्लिशर्स दिल्ली द्वारा—यह प्रस्ताव जब मेरे सामने आया कि डा० स्वामिनाथन के अवकाश ग्रहण के अवसर पर उनका अभिनन्दन किया जाय तथा अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाय तो मुझे अत्यन्त ही हर्ष की अनुभूति हुई—मेरा परिचय एवं सम्बन्ध डा० स्वामिनाथन से काफी पुराना है। सदैव वे मेरे प्रेरणास्रोत रहे—और संस्कृत विद्वान् अपनी कठिनाइयां लेकर उनके पास आते रहे। सर्वप्रथम डा० स्वामिनाथन के साथ मेरा सम्पर्क सन् १९७२ में हुआ जब श्रीलालबहादुर शास्त्री विद्यापीठ के प्राचार्य पद पर मेरी नियुक्ति हुई। विद्यापीठ के काम से बार-बार शिक्षा मन्त्रालय जाना पड़ता था और मैंने डा० साहब को सदैव सहायता के लिए तत्पर पाया। उन्होंने सदा ही मुझे छोटे भाई की तरह समझा और स्नेहसम्बन्ध प्रदान किया। मैं भी उन्हें सदैव प्रेरणास्रोत के रूप में मानता रहा। हमारा यह प्रेम-सम्बन्ध निरन्तर बढ़ता

ही गया यद्यपि कई विधाओं पर सैद्धान्तिक मतभेद भी रहते थे। जब भी मेरे सामने कोई कठिनाई आती तो मैं आपसे सलाह लेता था।

गत वर्षों में पुराणों के मूल ग्रन्थ उपलब्ध कराने के लिए मैंने श्रीयुत नागशरण सिंह जी को प्रेरित किया कि आप पुराणों का पुनः प्रकाशन करें। उन्होंने मेरे विनम्र निवेदन पर एक बड़े भारी उत्तरदायित्व का बोझ संभाला—और उन्होंने शिवपुराण को सबसे पहले पुस्तकाकार में प्रकाशित किया और तदनन्तर स्कन्द महापुराण को प्रेस में दे दिया। भगवान् आशुतोष शंकर की कृपा कहिए या डा० स्वामिनाथन की महानुभावता कहिये—डा० साहब सहर्ष आगे आए और उन्होंने सरकार से अनुदान दिलवाया, नाग पब्लिशर्स का उत्साह वर्धन किया। तदनन्तर केवल महापुराण ही नहीं अपितु अनेक रूप में ग्रन्थों का पुनर्मुद्रण द्वारा कम मूल्य पर उपलब्ध कराने का श्रेय डा० साहब को ही है।

डा० स्वामिनाथन का जन्म एक प्रसिद्ध पण्डित परिवार में १० मार्च १९२७ को हुआ था। इनका जन्म स्थान केरल प्रदेश का एक ग्राम यालधार रहा है। डा० साहब को अपनी मातृभूमि से अत्यन्त ही लगाव रहा है। पारिवारिक परम्परा के रूप संस्कृत का अध्ययन इन्हें बाल्यकाल से ही सुलभ हो गया था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा केरल प्रदेश में ही हुई। मद्रास विश्वविद्यालय से इन्होंने संस्कृत एवं अर्थशास्त्र विषयों में प्रथम श्रेणी में B.A. परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण की। एवं १९५० में इसी विश्वविद्यालय से M.A. संस्कृत परीक्षा में सर्वप्रथम रहे। आपने संस्कृत में M. Litt. परीक्षा भी उत्तीर्ण की। दरभंगा विश्वविद्यालय से आचार्य परीक्षा एवं दिल्ली विश्वविद्यालय से १९७४ में Ph.D. आदि प्राप्ति की। इस प्रकार आप संस्कृत अध्ययन में प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों परम्पराओं से सुशिक्षित हुए। इस शिक्षा के फलस्वरूप आप सदैव संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न परम्पराओं के समन्वय के पक्षपाती रहे हैं और यह उनका सर्वोत्कृष्ट योगदान माना जा सकता है।

इन्होंने अपने कार्य जीवन का प्रारम्भ संस्कृताध्यापन से किया। १९५५ से लेकर १९६१ तक आप राजकीय कालेज-तमिलनाडु में संस्कृत प्राध्यापक के रूप में कार्य करते रहे। तदनन्तर शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार में संस्कृत के असिस्टेन्ट एजुकेशन आफीसर के रूप में नियुक्त हुये।

तदनन्तर शिक्षा अधिकारी, एवं शिक्षा सलाहकार (संस्कृत), के रूप में कार्य करते रहे। १९६५ से १९६८ तक आप नेपाल सरकार के राष्ट्रीय संग्रहालय में Curator के रूप में भी कार्य किया। एवं राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान देहली के उपनिदेशक के पद पर कार्य किया। एक वर्ष आप श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठ देहली के प्राचार्य पद पर भी सुशोभित रहे। इस प्रकार आपका सम्पूर्ण जीवन ही भारतीय सरकार तथा संस्कृत जगत् की सेवा में समर्पित रहा है। आपने भारत के विभिन्न संस्कृत पुस्तकालयों में पाण्डुलिपियों को संग्रहीत करने, उनका सूची पत्र बनाने एवं आलोचनात्मक संस्करण तैयार करने में विशेष रुचि प्रदर्शित की। मत्स्य-पुराण का आलोचनात्मक संस्करण आपकी देख-रेख में तैयार हो रहा है। प्रकाशन एवं शोधकार्य में आपकी विशेष रुचि रही है। प्रशासकीय कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी आपने इतना अधिक लेखन कार्य किया है कि उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है। जानकीहरण महाकाव्य का अंग्रेजी अनुवाद देहली से प्रकाशित हुआ। शंकराचार्य की जीवनी का मलयालम अनुवाद एवं नेपाली भाषा में अनुवाद किया। आपने अंग्रेजी पुस्तक Science makes sense : का मलयालम में अनुवाद प्रकाशित किया। शंकराचार्यकृत दो अत्यन्त दुर्लभ स्तोत्र आपने प्रकाशित किये हैं। देववाणी परिषद – दिल्ली ने आपके द्वारा रचित—'बद्रीसुप्रभातम् एक भक्ति काव्य, कर्मभूषणम्' नाटक-चम्पू आदि प्रकाशित किये हैं। 'गीता भाष्य विवेचना' नाम से आपका शोध ग्रन्थ' अखिलभारतीय संस्कृत परिषद लखनऊ द्वारा प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी भाषा में नेपाल की संस्कृति पर आपकी पुस्तक प्रकाशित हुई है। 'श्रीपादसप्तति' नामक पुस्तक भी प्रकाश में आई है। इसके अतिरिक्त बहुत सारे शोध निबन्ध, संस्कृत कविताएं, तथा भाषणों द्वारा आपने संस्कृत विद्या के क्षेत्र में पूर्ण योगदान दिया है। डा० स्वामिनाथन अपने आप में व्यक्ति न होकर एक संस्था हैं जिन्होंने हमेशा संस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिये ही सोचा, एवं क्रियान्वित किया। अपने कार्यकाल में ऐसी बहुत सारी योजनाएं उन्होंने भारत सरकार को भेजी तथा पास होने पर उन योजनाओं को सुचारुरूप से चलाया जिन्हें संस्कृत जगत् कभी भुला न सकेगा जिनमें से मुख्य योजना निम्नलिखित हैं।

१. संस्कृत के पारम्परिक विद्वानों को आर्थिक सहायता प्रदान करना।

२. संस्कृत पाठशालाओं का आधुनिकीकरण ।

३. राष्ट्रीय संस्कृतसंस्थान देहली की संस्थापना ।

४. वैदिक संहिताओं के संस्करण का संरक्षण एवं टेपीकरण ।

५. वैदिक सम्मेलन की स्थापना ।

६. विश्वसंस्कृत परिषद् का प्रथम अधिवेशन—नई देहली में आयोजित किया तथा पंचम विश्व संस्कृत सम्मेलन वाराणसी में आयोजित किया ।

७. पिछले दो वर्षों में निर्णय सागर प्रेस द्वारा प्रकाशित संस्कृत के मूल-ग्रन्थों का पुनर्प्रकाशन ।

८. महापुराणों के पुनः प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करना ।

डा. स्वामिनाथन् : व्यक्तित्व की कुछ झलक

(डा० रमाकान्त शुक्ल, महासचिव देववाणी-परिषद्, दिल्ली)

शायद १९६९ की बात है। मेरे पूज्य पिता जी स्व० ब्रह्मानन्द जी शुक्ल श्री राधा कृष्ण संस्कृत कालेज, खुर्जा के प्राचार्य के रूप में किसी आधिकारिक प्रयोजन से शास्त्री भवन डा० रामकरण शर्मा से मिलने पधारे थे। मुझे उनके आगमन का समाचार मिला और मैं शास्त्री-भवन गया। डा० रामकरण शर्मा से पिता जी मिल चुके थे। जिस समय मैं पहुंचा डा० रामकरण शर्मा नहीं थे और ललाट पर चन्दन लगाये शालप्रांशु व्यक्ति कमरे में मौजूद थे जो टाइपराइटर पर कागज चढ़ाकर कुछ टाइप करने की तैयारी में थे। मेरे बड़े भाई जी (श्री कृष्णकांत शुक्ल) ने मुझे बताया कि ये सज्जन श्री सी० आर० स्वामिनाथन् हैं जो कि डा० रामकरण शर्मा के सहायक परामर्शदाता हैं और इस प्रकार श्री स्वामिनाथन् से मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ।

पहली एक दो मुलाकातों में यह सोच कर कि ये सज्जन दाक्षिणात्य हैं अतः हिन्दी नहीं जानते होंगे तो मैं संस्कृत माध्यम से ही उनसे वार्तालाप करता था। वे संस्कृत में ही उत्तर देते थे। यदि इस बीच कोई उनका सहायक अंग्रेजी में कोई बात पूछता था तो उसे अंग्रेजी में ही बात समझाते थे। यदि इसी बीच किसी मलयालम-भाषी का फोन उनके पास आता था तो उसे मलयालम में ही उत्तर देते थे। एक दिन मैंने सुना कि फोन पर हिंदी में भी किसी से बात कर रहे हैं। उसके बाद मेरा उनसे यदा-कदा हिंदी और संस्कृत दोनों में वार्तालाप होने लगा। उनका कहना था कि आजकल लोग संस्कृत कम पढ़ते हैं और संस्कृत के विषय में अधिक पढ़ते-बोलते हैं। यदि संस्कृत के मूल स्वारस्य की रक्षा करनी है तो संस्कृत माध्यम को अपनाना नितांत आवश्यक है। गलतियों की चिंता किये बिना संस्कृत माध्यम को पकड़ना चाहिए। और इस प्रकार मैंने पाया कि इस व्यक्ति के मन में संस्कृतज्ञों के द्वारा संस्कृत की उपेक्षा किये जाने पर एक टीस विद्यमान है।

मैंने पाया कि स्वामिनाथन् जी संस्कृत की सेवा के प्रति सर्वात्मना समर्पित है। सरकारी काम में इतने व्यस्त रहने पर भी स्वामिनाथन्

जी कैसे पृथ्वी, शार्दूलविक्रीडित; स्रग्धरा, मालिनी और अन्यान्य छंदों की रचना कर लेते हैं और विकट गद्य-बंध रच लेते हैं। केरल के पालघाट नामक स्थान में शास्त्रपुरम् रामकृष्ण स्वामिनाथन् का जन्म १० मार्च, १९२८ में "कार्यकार" विरुद से सम्मानित विद्वान् तथा वदान्य ब्राह्मण श्री रामकृष्ण के घर हुआ। बचपन में स्वामिनाथन् ने सामवेद का अध्ययन किया। प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा घर पर ही सम्पन्न हुई। उसके बाद मद्रास प्रेसीडेंसी कालेज से न्याय और साहित्य शास्त्र में एम. ए. किया। नेपाल में अभिलेखागार में कुछ दिनों कार्य किया। जानकीहरणम् का आलोचनात्मक संस्करण सम्पादित किया। कामेश्वरसिंह संस्कृत विश्वविद्यालय से साहित्याचार्य किया तथा दिल्ली विश्वविद्यालय से संस्कृत में 'गीताभाष्यों के तुलनात्मक अध्ययन' विषय को लेकर पी. एच. डी. पायी। बचपन में कुछ श्लोक शंकराचार्य जी के विषय मे रचे। बड़े होने पर 'जीर्णोपधानम्' तथा अन्यान्य रचनाएं कीं और अभी हाल में ही 'श्री बदरीशसुप्रभातम्' नामक स्तोत्र काव्य की रचना की है। आवास स्थान ५/३० डब्ल्यू ई ए करोलबाग, नयी दिल्ली—११०००५ है। इस व्यक्तिगत परिचय के साथ जब इनका साहित्यक परिचय जानने के लिए मैंने इनकी रचनाओं में झांका तो पाया कि किसी भी रचना में भी प्राकृतजन-गुणगान इन्होंने नहीं किया। वदान्यता के प्रतीक कर्ण को अपने नाटक का नायक बनाया जो यह जानते हुए भी कि इन्द्र उसे ब्राह्मण वेश धारण कर वंचित करने के लिए आयेगा अपने दानव्रत से विमुख नहीं होता और कहता है कि यदि मेरे सामने सुराधिपति इन्द्र हाथ फैलाता है तो मेरी अपेक्षा वही वंचित और नष्ट महिमा वाला होगा:—

> वज्राधानविचक्षणं करतलं कार्पण्यमुद्रायितं
> धृत्वा मत्पुर एत्य तिष्ठति सति स्वायत्तकल्पद्रुमे।
> यज्ञाराध्यतनुः स्वयं शतमखः सूतात्मजापेक्षया
> नूनं वञ्चित एव नष्टमहिमो लब्धेप्सितार्थोऽपि सन् ॥

ऐसे महच्चरित्र को अपना चरित-नायक बनाने वाले स्वामिनाथ के स्वभाव में अवश्य कुछ न कुछ उसके गुण रहे होंगे। मानवीय मूल्यों की अभिव्यंजना उनके 'ध्वस्तं कुसुमम्' नामक काव्य में होती है जिसमें स्वयं कवि ने उदारवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए सामाजिक रूढ़ियों की अपेक्षा हार्दिक सामंजस्य को अधिक स्वीकार्य माना है।

स्वामिनाथन् जी विद्वानों की सपर्या कर अपने को धन्य मानते हैं। सैंकड़ों, हजारों संस्कृत के निर्धन विद्वानों, वेद-पाठियों को शास्त्र-चूड़ामणि

योजना, आदर्श संस्कृत पाठशाला योजना, वेदपाठशाला योजना तथा राष्ट्रपति-पुरस्कार योजना के अन्तर्गत कुछ आर्थिक सहायता देने में सरकार की योजना के साथ-साथ उनका संस्कृत सेवी दृष्टिकोण भी सहायक रहा है। विद्वानों का आदर करने का मानो इन्हें व्यसन है।

एक दिन ज्ञात हुआ कि स्वामिनाथन् जी ने भट्टनारायण मेलपत्तूर भट्टतिरि की 'श्रीपादसप्तति' की 'श्रीपाद-पराग' नामक एक व्याख्या लिख ली है। मैंने उसे 'अर्वाचीनसंस्कृतम्' में प्रकाशित करने का जब प्रस्ताव किया तो बड़े विनम्र भाव से बोले कि पहले इसे किसी वैयाकरण विद्वान् को दिखा लिया जाय। वैदुष्य के साथ विनय का यह अभिनन्दनीय संयोग था।

एक दिन मैंनें कुछ अर्थवाद से प्रेरित होकर ही मानो इनसे कहा 'डाक्टर साहब, आपने संस्कृत से पंडितों के लिए वह कर दिया जो कोई नहीं कर सका," तो इस पर वे हँस कर बोले 'भई, मैं अपनी जेब से किसी को कुछ थोड़े ही दे रहा हूं। मैं तो निर्धारित नीति का सही पालन करके अपना सरकारी कर्तव्य शतप्रतिशत निवाहता हुआ अपना धर्म पालन कर रहा हूं।' ऐसे अधिकारी के उत्तराधिकारी भी ऐसे ही हों भगवान् से यही प्रार्थना है, ताकि शास्त्री-भवन में स्वामिनाथन् जी के द्वारा लगाये गये पौधे फलते फूलते रहें।

डा. सी. आर. स्वामिनाथन :
प्रथम परिचय

नागशरण सिंह

स्वर्गीय डा० वी. राघवन ने श्री स्वामिनाथन जी का परिचय मुझसे १९६१ में कराया जब आप मद्रास से शिक्षा मंत्रालय में सहायक शिक्षा अधिकारी के रूप में आए। उस समय मैं मोतीलाल बनारसीदास में प्रकाशन का कार्य देख रहा था। प्रारम्भ से ही मैंने इन्हें कनिष्ट भ्राता के रूप में देखा और जब भी मैं इनके घर पर गया इनकी माता जी ने भी मुझे पुत्रवत प्यार दिया। मैं प्रारम्भ से ही इन्हें लिखने आदि के लिए प्रोत्साहित भी करता रहा और इनकी पुस्तक जानकीहरण को भी प्रकाशन के लिए ले लिया।

जब आप ने सहायक शिक्षा सलाहकार संस्कृत विभाग में आये उस समय डा० आर. के. शर्मा, डिप्टी शिक्षा सलाहकार के संयुक्त प्रयास से संस्कृत के अमूल्य और अप्राप्य ग्रंथों के प्रकाशन में आप दोनों व्यक्तियों का प्रयास स्तुत्य है। उसके बाद आप जब डिपुटी शिक्षा सलाहकार हुए तब आपके प्रयास से ही निर्णय सागर के प्रेस के अप्राप्य ग्रन्थों तथा क्षेमराज वेंकटेश्वर प्रेस के पुराणों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। आज मुझे गर्व के साथ कहना पड़ रहा है कि जो संस्कृत के अमूल्य निधि एक प्रकार से अंधेरे कमरे के किनी कोने में पड़े थे पुनः संसार के सामने सूर्य की रोशनी में आ गये और उनकी मांग देश-विदेश में भी बढ़ गई और संस्कृत पुनः अपना उच्च स्थान अन्य भाषाओं में पाने लगा। इसका सारा श्रेय डा. साहब को ही जाता है।

एसियाड के समय में भी आप ने प्राचीन पुस्तक क्रीडा कौशल्यम् का हिन्दी तथा आंग्ल अनुवाद प्रकाशित कर वहां वितरण कर भारतीय प्राचीन खेलों को देश-विदेश के खिलाड़ी प्रेमियों के सामने रखा। आप से जब भी संस्कृत के प्रकाशन की बात चलती तो आप के हृदय में सदैव संस्कृत ही की बात थी और वे चाहते हैं कि संस्कृत के सभी अमूल्य ग्रंथ प्रकाशित हो जायं और संस्कृत सभी भारतीय शिक्षा संस्थाओं में अनिवार्य पढ़ाई जाने लगे।

आप को डा० कपिलावात्स्यायन, जो आज शिक्षा विभाग में सचिव हैं, डा० रामकरण शर्मा जो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में वाइसचांसलर हैं तथा डा० मंडन मिश्र जो स्वयं पं. मदनमोहन मालवीय के रूप में पुनर्जन्म लेकर काशी ही नहीं अन्य स्थानों में भी संस्कृत की उच्चशिक्षा दिलाने का विश्वविख्यात संस्थाओं का जन्म दिला सके। आज यह जानकार कि आप अवकाश ग्रहण कर रहे हैं मुझे विश्वास नहीं होता कि क्या कोई जीवन भर अपने इस संस्कृत के उत्थान आदि से अवकाश ग्रहण कर सकेगा। जीवन पर्यन्त कभी भी वह उससे अलग नहीं हो सकता यह मेरा पूर्ण विश्वास है और आप जहाँ भी रहेंगे वहीं आपका ध्यान इसी विषय पर लगा रहेगा।

विषय सूची

प्राक्कथन

विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ पर विश्व के क्षितिज पर सर्वप्रथम भाषा का दिव्य प्रकाश फैला था और उसने सारी मानवजाति को चकाचौंध कर दिया। 'इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता' अथर्व०। इस भाषा के चमत्कार ने मानवीय संवेदनाओं को दूसरे तक पहुंचाने का एक सुगम एवं सरल उपाय प्रस्तुत किया। 'अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके' निरुक्त। फिर प्रारम्भ हुआ सर्वतोमुखी चिन्तन। कभी अर्थरिक्त विचार हुए, कभी पदविभाजन पर विचार हुए। निर्वचनों के व्याकरणगत संस्कार पर आचार्यों ने अपने अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये। वेदों से प्रारम्भ कर आधुनिक युग तक भारतीय मनीषी भाषा की गहन परतों को उद्घाटित करने में लगे हुए हैं। विशेषता भारत की यह रही है कि जब सारा विश्व अज्ञान के अन्धकार में विलीन था उस समय हमारे ऋषि एवं आचार्य भाषा के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तन प्रारम्भ कर चुके थे। आधुनिक युग में तो पश्चिम के विद्वान् भी अथक परिश्रम एवं लगन से इस वाग्देवी की उपासना में संलग्न हैं। यह वाग्देवी भी अपने उपासकों को ज्ञान की झलक देकर उनको पुरस्कृत करती रहती है तथा उनके द्वारा किये गये शोध कार्यों द्वारा मानव हृदय की गहराइयों को समझने में हम काफी सक्षम हो रहे हैं। यह ऐसा क्षेत्र है जहाँ 'अन्तिमेत्थम्' रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

भाषा ही वह इकाई है जिसने मानव जाति को एक सूत्र में पिरो कर रखा हुआ है (यजुर्वेद २६।२)। एक भाषा बोलने वाले लोग अपने को अधिक निकट का अनुभव करते हैं। **'Linguistic affinity is the strongest one'** यह विश्व के सभी लोग एकमत होकर स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार भारतीय धरातल को जिसमें विभिन्न धर्म को मानने वाले, अनेक नृवंशों से सम्बन्ध रखने वाले तथा विभिन्न भूभागों से आने वाले व्यक्ति एवं समाज निवास करते हैं उनको एक सूत्र में बांधने का काम संस्कृत भाषा ने किया है।

दक्षिण में कन्याकुमारी से लेकर उत्तर में हिमालय की ऊंचाइयों तक, 'आसेतुहिमालयात्' सभी जगह संस्कृत ने अपनी गहरी जड़ें फैला रखी हैं। उसी संस्कृत भाषा के आचार्यों ने भाषा के क्षेत्र में समय-समय पर जो चिन्तन प्रस्तुत किये हैं उनका एक मूल्यांकन यथासम्भव एवं यथाशक्ति प्रस्तुत किया जा सके, इस विचार से संस्कृतपरिषद्, दक्षिण परिसर, दिल्ली विश्वविद्यालय ने एक द्विदिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया—'भारतीय आचार्यों का भाषा-चिन्तन।' इस विषय पर लगभग एक सौ से अधिक विद्वानों ने इसमें भाग लिया तथा संगोष्ठी को सफल किया। उस संगोष्ठी के विचार-विनिमय का निष्कर्ष आपके समक्ष पुस्तक रूप में प्रस्तुत है।

वेद भाषा की प्राचीनतम उपलब्ध कृति होने के कारण वेदों को ज्ञान का भण्डार स्वीकार किया गया है। अतः शब्द ब्रह्म का चिन्तन वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था। वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् सर्वश्री वेदप्रकाश शास्त्री ने 'वेद में भाषातत्त्व' नामक प्रस्तुत निबन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। वाणी के चार रूप—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी आदि का संकेत ऋग्वेद में उपलब्ध है।

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। ऋग्वेद १।१६५।४५
अन्तर, वर्ण, विभक्तियां, उपसर्ग, क्रियायें, नाम, विशेषण, समास, सन्धियां, छन्द, प्रत्यय, वाक्यरचना और अलंकार आदि सभी तो वेदों में उपलब्ध हैं। प्रोफेसर कृष्णलाल ने अथर्ववेद में भाषा सम्बन्धी विचार पर अपना लेख लिखा है। अथर्ववेद में गौ शब्द वाणी के लिये प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में भाषा को विराट् कहा गया है। वैश्वनरी कहा है अर्थात् वह लोगों में व्याप्त है—सब को ले जाने वाली है। वह परमेष्ठिनी अर्थात् सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित है। भाषा सबको ज्ञानरूपी दूध का पान कराने वाली माता है।

प्रोफेसर भोलानाथ तिवारी ने प्रातिशाख्यों और शिक्षाग्रन्थों में भाषा के मूल तत्त्व अर्थात् ध्वनियों पर विचार विमर्श प्रस्तुत किया है। यह ध्वनि बिचार उस काल का है जब विश्व में कहीं भी भारत के अतिरिक्त इतना गम्भीर विवेचन नहीं हो रहा था। तदनन्तर डा० पुष्पेन्द्र कुमार ने विश्व के प्रथम भाषा वैज्ञानिक आचार्य यास्क के भाषापरक विचारों पर निबन्ध प्रस्तुत किया है। यास्क ने अपनी बहुमूल्य देन—'नामानि आख्यातजानि'

अर्थात् नाम आख्यतज हैं—कह कर भाषा विज्ञान की सुखद नींव रख दी थी। यास्क ने चार प्रकार के शब्द समूह, उपसर्गों का स्वतन्त्र अस्तित्व, शब्दों की अर्थवत्ता तथा नित्यता, एवं निर्वचन के सिद्धान्तों का निर्देशन करके एक महत्त्वपूर्ण पद्धति का विकास किया था। परवर्त्ती आचार्य यास्क के महत्त्व को तथा उनके योगदान को सदैव स्मरण रखेंगे।

आचार्य व्याडि का 'संग्रह' ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता परन्तु व्याडि के नाम से कुछ विचार अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उन्हीं को आधार बनाकर कु० अरुणा गुप्ता ने व्याडि के भाषापरक चिन्तन को प्रस्तुत किया है। डा० रघुनाथ पाण्डेय ने बौद्धों की भाषा चिन्तन प्रक्रिया को बड़े ही विद्वत्तापूर्ण लेख में प्रस्तुत किया है।

प्रोफेसर मणिनाथ झा ने कुछ विशिष्ट शब्द प्रयोगों को अपना विचार-बिन्दु बनाकर प्राचीन आचार्यों के भाषापरक चिन्तन को विद्वानों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया है। श्रीरमण कुमार शर्मा द्वारा लिखित निबन्ध में 'भाषा चिन्तन में प्रतिभा की अवधारणा—भारत के विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रतिभा-सिद्धान्त' पर विचार व्यक्त किये हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिस पर बहुत से आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में विचार व्यक्त किये हैं। डा० रघुवीर वेदालंकार 'काशिका' के एक विशिष्ट विद्वान् हैं। उन्होंने काशिकाकार द्वारा निबद्ध भाषापरक चिन्तन को हमारे सामने रखा है। उसी प्रकार डा० सूर्यकान्त बाली ने बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से परवर्त्ती वैयाकरण 'भट्टोजिदीक्षित का संस्कृत भाषा को योगदान' लेख में भट्टोजिदीक्षित के एक नये स्वरूप को उद्घाटित किया है। परवर्त्ती काल के आचार्यों में आचार्य भट्टोजिदीक्षित ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना रखा है तथा पाणिनि को छोड़ कर सभी आचार्यों को उन्होंने पीछे छोड़ दिया है। वे भाषापरक चिन्तन के क्षेत्र में सदा ही स्मरणीय रहेंगे।

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा उस संगोष्ठी के प्रथम तथा प्रमुख वक्ता थे। उन्होंने अपने वैदुष्यपूर्ण लेख में भर्तृहरि के महत्त्व को आधुनिक भाषा विज्ञान के सन्दर्भ में पूर्णरूप से उद्घाटित किया है। आचार्य भर्तृहरि ने भाषा-चिंतन को एक दर्शन शास्त्र का पद प्रदान किया है। उन्होंने शब्द की व्यापकता पर दृष्टि डालते हुए—शब्द को ब्रह्म ही स्वीकार किया है।

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।'

आचार्य भर्तृहरि एक क्रान्तिकारी भाषा वैज्ञानिक के रूप में याद किये जाते रहेंगे। उनकी वाक्यपदीय भाषाचिन्तन के क्षेत्र में नये मानदण्ड स्थापित करने में एक अक्षय कोष का काम कर रही है। जितनी गहराई तक आचार्य भर्तृहरि पहुंच गये थे उतनी गहराई तक शायद ही कोई पश्चिम का विद्वान् पहुँचा हो। डा० कंवर लाल ने आचार्य शौनक द्वारा प्रतिपादित भाषा सिद्धान्तों का विवेचन किया है। भारतीय व्याकरण शास्त्र में 'स्फोटवाद' की बड़ी चर्चा रही है। इस विषय पर शोधपूर्ण निबन्ध लिख रहे हैं श्रीरमण कुमार शर्मा। इन्होंने बड़े ही परिश्रम से 'स्फोट' को बड़े ही सुन्दर शब्दों में समझाने का प्रयत्न किया है।

डा० रामगोपाल मिश्र ने नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरत का निर्वचन-चिन्तन प्रस्तुत करके काव्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में एक नयी चिन्तन दिशा प्रस्तुत की है। डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी ने 'भाट्ट मीमांसक के मत में वाक्यार्थबोध' की प्रक्रिया पर विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा है तथा इस गुत्थी को सुलझाने में बड़ा ही परिश्रम किया है। डा० बलराम शुक्ल ने "शब्दार्थ-सम्बन्धे अन्विताभिधानवादिनः' इस लेख में वाक्यार्थ बोध के दूसरे पक्ष को उद्घाटित किया है। डा० जगदीश प्रसाद मिश्र ने 'आशाधर भट्ट एवं संकेत-ग्रह' पर विचारों को अभिव्यक्त किया है। डा० रणजीत सिंह सैनी ने आचार्य कुमुदेन्दु द्वारा रचित भूवलय ग्रन्थ को आधार बनाकर लेख लिखा है। आचार्य कुमुदेन्दु कुछ क्रान्ति करना चाहते थे और इसी विचार से उन्होंने 'भूवलय में संख्या को आधार वनाकर भाषा को समझने के सूत्र प्रदान किये हैं। यह एक नयी दिशा दी आचार्य कुमुदेन्दु ने। आधुनिक युग में शैली-विज्ञान नाम से भाषा संरचनात्मक स्वरूप पर विचार किया जा रहा है। प्राचीन आचार्यों ने सम्भवतः इसी को रीतियों में परिगणित किया था। इस आधुनिकतम विषय पर लिख रहे हैं डा० ओमप्रकाश सिंहल। ये शैली विज्ञान का भारतीय काब्य शास्त्र के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है, इस विषय पर उनके विचार पठनीय हैं।

भाषाचिन्तन के क्षेत्र में इन निबन्धों का एक अपना महत्त्व है। भाषा की गुत्थियों को समझने में ये निबन्ध काफी सीमा तक सहायक हो सकेंगे ऐसा हमारा विश्वास है। यह तो प्रारम्भिक प्रयास है—आशा है इस दिशा में एक सर्वतोमुखी प्रयत्न का यह एक शुभारम्भ है। मैं उन सभी विद्वानों का जिन्होंने निबन्ध लिखकर दिये हैं तथा कठिन विषयों पर अपनी लेखनी

उठाई है—हृदय से आभारी हूं । जिन विद्वान् वक्ताओं ने अपने अपने विचार मौलिक रूप से व्यक्त किये उन सभी का धन्यवाद है । प्राचीन आचार्यों के प्रति जिन्होंने उस प्राचीन काल में दिशा-निर्देश कर दिये थे—परन्तु हम जिन्हें भूल बैठे थे—शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापन सम्भव नहीं—यही कहा जा सकता है कि इस प्रयास के माध्यम से हम उनके प्रयासों एवं प्रयत्नों को आगे बढ़ाकर अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करते हैं ।

मैं अपने सहयोगियों डा० कृष्ण लाल, डा० योगेश्वरदत्त शर्मा, डा० रणजीत सिंह सैनी, डा० दीप्ति त्रिपाठी, डा० श्रवण कुमार सिन्हा, डा० महावीर, डा० सत्यपाल नारंग एवं अन्य सभी के सक्रिय सहयोग एवं हार्दिक समर्थन के लिए हृदय से कृतज्ञ हूँ । बिना जिनके सहयोग के यह प्रयास असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य था । इस ज्ञान यज्ञ की सफलता क श्रेय मेरे सभी सहयोगी बन्धुओं को है । दक्षिण परिसर के उन कर्मचारी बन्धुओं के प्रति मैं नतमस्तक हूं जिन्होंने निष्कामभाव से नेपथ्य में रह कर इस ज्ञान गंगा को प्रवाहित करने में अपने भगीरथ प्रयत्न एवं सहायता सदैव सहर्ष प्रदान की ।

अन्त में मैं मैसर्स नाग पब्लिशर्स के अध्यक्ष श्री नागशरण सिंह, तथा उनके सुपुत्र श्री नरेन्द्र प्रताप तथा श्री सुरेन्द्र प्रताप का हृदय से आभारी हूं। मेरे एक निवेदन पर ही इस ज्ञानयज्ञ में अपनी सहायता प्रदान करने को तत्पर हो जाते हैं। इस पुस्तक को सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय सभी इन महानुभावों को है ।

अन्त में मैं सुधी जनों से क्षमा प्रार्थना करता हूं कि इस प्रयास में जो त्रुटि रह गई हो उनको नजर अन्दाज करते हुये मेरे इस प्रयास में अपना सम्बल प्रदान करके मेरा उत्साहसंवर्धन करेंगे । यजुर्वेद के वाक्य के साथ अपने निवेदन को पूर्ण करता हूं । यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।

दक्षिण परिसर
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पुष्पेन्द्र शर्मा
रीडर संस्कृत विभाग

वेद में भाषा-तत्त्व

—वेद प्रकाश शास्त्री

भारतीय मनीषियों की यह धारणा है कि उस परम कारुणिक प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों के हृदय में चारों वेदों को इस हेतु प्रेरित किया कि मानव-जगत् उसके द्वारा पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फलों को प्राप्त कर सके। इसीलिए वेदों में सब सत्य विद्याओं के मूल तत्त्व समाविष्ट किये गये। संसार में जितनी भी सत्य विद्याएं हैं उनका मूल वेदों में है। इसीलिए वेदों में भाषा-तत्त्व भी बहुत बड़ी मात्रा में पाये जाते हैं, जिनके द्वारा मानव ने भाषा में उन्नति कर सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान में उन्नति की। वेद ऐसी कल्याणी वाणी है जिसे सभी मानव मात्र के लिए प्रभु ने कहा था। देखिए इस मन्त्र को

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

यजु० । २६ । २

वेद एक वाणी है, जिसका बोलने वाला परमेश्वर ही है। इस मंत्र से स्पष्ट है, कि वाक् एवं इसके तत्त्व वेद में पूर्णतः पाये जाते हैं।

किसी भी वाणी में चार प्रकार के तत्त्व पाये जाते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। शब्दों के विभिन्न रूप सात विभक्तियों में ही प्रायः मिलते हैं। वेद इस बात को इस रूप में बता रहे हैं—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणाः ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति॥

ऋ० १ । १६४ । ४५

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥

ऋ० ४ । ५८ । ३

इन मन्त्रों में बताया गया है कि वाणी के पद (सार्थक शब्द) चार प्रकार के ही हैं —नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन सबके स्वरूप को ज्ञानी ही समझ सकते हैं। इन में से नाम, आख्यात और उपसर्ग द्वारा शब्दों की रचना का कार्य रहस्यमय है। सामान्य लोग उन्हें नहीं समझते। सामान्य लोग तो बने-बनाये निपात शब्दों के समान ही शब्दों का प्रयोग करते हैं।

दूसरे मन्त्र में इसे और स्पष्ट किया गया है। वाणी के चार सींग हैं, अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। दो इसके सिर हैं—एक सुबन्त शब्द और दूसरे तिङन्त। सात इसकी विभक्तियाँ हैं। वाणी के शब्दों का उच्चारण हृदय, कण्ठ और शिरो भाग में स्थित ताल्वादि से होता है। ऐसा महान् देवरूप शब्द मनुष्यों में सदा विराजमान रहता है।

एक अन्य मन्त्र देखिए:—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यम् सुषिरामिव ॥ ऋ० ८। ६६। १२

हे वरेण्य शब्द, तू उत्तम देव है। तेरी सातों नदीरूप विभक्तियाँ मुख में से सुन्दर लहरों वाली होकर प्रकट होती है। अथर्ववेद में तो इन विभक्तियों को इस प्रकार कहा गया है:—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो वाद्य दधातु मे ॥ अथर्व १। १। १

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ अथर्व १। १। २

ये जो २१ प्रकार के शब्द, अर्थात् सात विभक्तियाँ और प्रत्येक के तीन-तीन वचन भाषा के समस्त रूपों में धारण होते हैं, वाणी का स्वामी प्रभु या गुरु मेरे शरीर में उन के बलों को धारण करवाये अर्थात् मुझे सभी शब्दों के रूप प्रयोग करने का सामर्थ्य प्राप्त हो।

अगले मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हे वाणी के स्वामी! तुम दिव्य गुणों वाले मन के साथ मुझे प्राप्त होओ। आपका ज्ञान शब्दों के माध्यम से मेरे अन्दर प्रवेश करे और जो मैं सुन लूँ उसे कभी भी भूलूँ नहीं।

भाषा की इकाई

वेद में भाषा की इकाई ऋचा अथवा वाणी को ही माना गया है; जैसा कि निम्न मन्त्र में है—

ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये । वागोजः सहौ वौ मयि प्राणापानौ ।। यजु० ३६ । १

इस मन्त्र में कहा गया है कि मेरे प्राण और अपान के साथ-साथ मेरी वाणी बलवती होकर सभी वेदों के मंत्रों को ग्रहण करे और उनके तत्त्व को समझ । निम्न मन्त्र को देखें और विचार करें:—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्, तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्य व्यदधुः पुरुत्रा, तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ।।
ऋ० १० । ७१ । ३

यज्ञ रूप प्रभु से वाणियाँ पदों की श्रेणी में आईं । ऋषियों में वह वाणी प्रवेश कर गई । पुनः ऋषियों ने उन्हें पदों तथा वर्णों में व्याकृत किया । उसी वाणी को सब ओर रहने वाले उपासकों ने प्रयुक्त किया ।

ऋग्वेद का १० वें मण्डल का सम्पूर्ण ७१ वां सूक्त वाणी के तत्त्वों के विषय में ही है । इसी में कहा है—बृहस्पति ने वस्तुओं के नामों की प्रेरणा दी, विद्वानों ने भाषा को पदों और वर्णों में विभक्त किया । ऐसे ही विद्वानों की वाणी में शब्द लक्ष्मी का निवास होता है ।

इसी सूक्त के चौथे मंत्र में वाणी के पाठ्य एवं लेख्य स्वरूप का भी दिग्दर्शन कराया गया है:—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ।।
ऋ० १० । ७१ । ४

कुछ असावधान लोग वाणी को देखते हुए भी नहीं देखते, कुछ सुनते हुए भी नहीं सुनते । परन्तु कुछ योग युक्त लोगों के लिए वाणी अपना शरीर इस प्रकार खोल देती है, जैसे कामना करती हुई पत्नी पति के समक्ष विवृत हो, जाती है ।

इस मंत्र के 'ददर्श' से वाणी के लिखित रूप का तथा 'शृणोति' से वाचनरूप का बोध होता है ।

इससे अगले मंत्र में अर्थहीन पठन को 'अधेन्वा' दूधरहित गाय कहा है । अतः शब्दार्थ बोध के साथ ही अध्ययन करना चाहिए । इन मन्त्रों से भाषा के चार उद्देश्य स्पष्ट हो जाते हैं ।

(१) लिखना, (२) पढ़ना, (३) बोलना और (४) सुनना। भाषा के इन चारों उद्देश्यों को लेकर ही व्याकरण बना है।

वर्ण भाषा की छोटी इकाई

वर्ण भाषा की छोटी से छोटी इकाई है। इसकी शिक्षा ब्रह्मचारी का मेखला-बन्धन के बाद से दी जाती थी। मेखला-बन्धन आदि के सम्बन्ध में अथर्ववेद में कहा गया है:—

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियम् च।।

अथर्व ६।१३३।४

इस मन्त्र में मेखला को शिक्षा-विषयक मति, तप और इन्द्रियों की शक्ति देने वाला कहा गया है। इसी सूक्त के आधार पर वर्णोच्चारण में मेखला को सहायक बताते हुए आश्वलायन गृह्यसूत्र में आया है:—

इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना, स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्।।

आश्व। गृह्य १।२१।७

इसमें बताया है कि मेखला अशुद्ध उच्चारण को ठीक करने में सहायक तथा वर्णोच्चारण को शुद्ध करने वाली है। इस बात में मेखला-सम्बन्धी शरीर-क्रिया-विज्ञान क्या है? यह बात तो आयुर्वेद के पंडित ही बतायेंगे परन्तु हमारा कहना यह है कि वर्णों की शिक्षा के सम्बन्ध में वेद में तत्त्व स्पष्टरूप से दिखाई देते हैं।

'वर्ण और 'अक्षर' दोनों शब्द वेद से ही आये हैं। जैसे—

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्।।

अथर्व ११।८।१७

प्रश्न यह था कि इस शरीर में वर्ण (रंग) किस ने भरा। उसी का उत्तर इस वेदमन्त्र में है कि सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को जानती थीं, परन्तु उनकी इस शिक्षा में रंग भरने वाली ईश्वरीय शक्ति ही है। अर्थात् ईश्वर की प्रेरणा से ही शरीर और इन्द्रियों में रंग आता है। रंगबोधक इस वर्ण शब्द से लिपि के लिखित स्वरूप को ही वर्ण कहा जाता है। तथा

मुख को आवृत करने के कारण उच्चारित ध्वनि भी वर्ण कहलाती है। अक्षर शब्द का प्रयोग निम्न ऋचा में देखें:—

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी, द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥

ऋ० १। १६४। ४१

गौरी (गणशीला वाणी) से शब्दों का निर्माण होता है। उन शब्दों द्वारा कोई वाक्य एकपद वाला, कोई दो पदों वाला, कोई चार पदों वाला, कोई आठ पदों वाला, कोई नौ पदों वाला इच्छानुसार बनता जाता है। बढ़ती हुई यह वाणी हजारों अक्षरों में उस ब्रह्म की स्तुति करने लगती है।

वर्णमाला—वर्णमाला का बोध एक ओर तो पाणिनिकृत माहेश्वर सूत्रों (अ इ उ ऋ आदि) से होता है। दूसरी ओर स्वर, कु चु टु तु पु, अन्तस्थ, ऊष्म, अयोगवाह और यमों की गणना से ६३ या ६४ वर्णों का पता चलता है। इन सभी वर्णों का आधार वेद ही है। वेद में अग्नि में 'अ' इन्द्र में 'इ' 'उदात्त' में 'उ 'वरुण' में 'व' 'ईश' में 'ई' आदि शब्दों में सभी वर्ण आ जाते हैं। ऋषियों ने उन वर्णों को क्रम से रखा है।

कुछ भाषा वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि वेदों में मूर्धन्य ध्वनियाँ नहीं हैं। यह उनकी भ्रान्ति तथा प्रमाद है। सभी मूर्धन्य ध्वनियाँ वेद में स्थान-स्थान पर पाई जाती हैं; यथा:—

(क) ऊपर के मन्त्र में ही 'अष्टापदी' में ष् तथा ट ध्वनियाँ।

(ख) वर्णमाभरत् अथर्व ११। ८। १७ में ण और र।

(ग) घृतपृष्टो॥ ऋ० १। १६४। १

इडा, मण्डूकि आदि शब्द में ड।

इडया जुह्वतो वयम्। अथर्व। ३। १०। ११

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा। यजु०। ३६। ५ इस मन्त्र में 'ढ' इस प्रकार सम्पूर्ण वर्णमाला का स्रोत भी वेद ही है।

क्रियायें:—

वेद में तीनों कालों के विविध रूप देखने को मिलते हैं। मुख्यरूप से काल यद्यपि एक है, तो भी हमारे जीवन को अपेक्षित कर उसे भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्काल में बाँटा जाता है। काल-विषयक यह मंत्र ध्यातव्य है:—

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ।

अथर्व० १९ । ५३ । १

इस मन्त्र से पता चलता है कि सभी क्रियायें काल चक्र में ही रही है । पुनश्च—

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा ।
कालादृचः समभवन् कालो निविशते पुनः ।। अथर्व १९ । ५४ । ३

भूत, भव्य और वर्तमान (निविशते से) काल के तीनों भेदों का ज्ञान होता है । काल के इन्हीं भेदों के तथा विध्यर्थ आदि के द्वा क्रियाओं के शतशत भेद हो जाते हैं । मनस्वियों ने उन्हीं भेदों को वेदों से संगृहीत कर दस लकार, तीन पुरुष और तीन वचनों की व्यवस्था की है । निम्न मंत्रों में क्रियाओं की विभिन्न स्थितियाँ रेखांकित की गई हैं, उन्हें देखें । ये मंत्र अथर्व० १२ । १ भूमिसूक्त से हैः—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ।। १ ।।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्, सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ।। २ ।।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्याः व्यैलवा ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।।

सा नो भूमिः प्रणुदता सपत्नान् सपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ।। ४१ ।।
यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्यात् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमि रन्धय पूर्वकृत्वरि ।। १४ ।।

अन्तिम मन्त्र में 'द्वेषत्, पृतन्यात्, अभिदासात् क्रमशः लेट्, लिङ् और पुनः लेट् के प्रयोग हैं ।

प्रत्ययः—

वेद में तिङ् तथा सुप् प्रत्ययों का प्रयोग तो तिङन्त तथा सुबन्त शब्दों के प्रकरण में देख ही लिया हैं; इनके साथ ही कृत एवं तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग लौकिक भाषा से भी अधिक है । कुछ मंत्रों में देखें:—

उद्यानं ते पुरुष नावयानम् जीवातुम् ते दक्षतातिम् कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ त्रिर्विविदथमा वदासि ।।

अथर्व० ८ । १ । ६

यहां 'यान' में ल्युट्, 'जीवातुम्' में तुमुन् 'दक्षतातिम्' में तुमुन्, 'अमृतम्' में क्त 'सुखम्' में अच् 'रथम्' में औणादिक प्रत्यय, 'त्रिविः' में विन् 'विदथमा' में 'अथम' औणादिक प्रत्यय कृत, प्रत्यय ही हैं।

शं न आपो धन्वन्याः शमु सन्त्वनूप्याः ।

शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः ।

शमु नः सन्तु वार्षिकीः ॥ अथर्व० १ । ६ । ७

इस मंत्र में 'धन्वन्याः' अनूप्याः, खानित्रिमाः, वार्षिकीः' शब्दों में यत्, इमनिच्, अण तद्धित प्रत्यय ही हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद के दसवें काण्ड के सातवें सूक्त में निम्न शब्द तद्धितान्त ही हैं– कु, यत्र, कतमः, अवमम्, मध्यमम्, कियत्, सहस्रधा, तत्र, उत्तरम्, त्रयः, त्रिंशद्, चतस्रः, प्रथमः इत्यादि ।

वेद में लिङ्गप्रत्यय भी शब्दलिङ्गानुसार देखे जा सकते हैं। पृथिवी सूक्त के मंत्र को देखें:—

सत्यं बृहदृतम् पहले दिये हुए दोनों मन्त्रों में तीनों लिंगों वाले शब्द ये हैं:—

सत्यम्, बृहत्, ऋतम्, उग्रम्, तपः, ब्रह्म—नपुंसकलिंग ।

दीक्षा, पृथिवी, सा, पत्नी, यस्याम्, आपः, कृष्टयः, भूमि—स्त्रीलिंग यज्ञः, समुद्रः, सिन्धुः' आक्रन्दः, मर्त्याः, दुन्दुभिः—पुंलिंग ।

उपसर्ग:—

वेद में उपसर्ग क्रिया के साथ, क्रिया से व्यवहित पूर्व या परे सभी रूपों में देखने को मिल जाते हैं। शब्दांश होते हुए भी उपसर्ग स्वतन्त्र शब्दों के समान वेद में प्रयुक्त देखे जा सकते हैं। यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय से कुछ उदाहरण देखें:—

'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' यजु० ३२ । २

यहाँ 'अधि' का प्रयोग 'जज्ञिरे' क्रिया से व्यवहित परे हैं। अन्वय में 'अधिजज्ञिरे' हो जायेगा ।

यत्राधि सूर उदितो विभाति । यजु० ३२ । ७

यहाँ 'अधि' का प्रयोग पूर्व-व्यवहित है और अन्वय करते समय 'अधिविभाति' हो जायेगा ।

तस्मिन्निदं सञ्च वि चैति सर्वम् । यजु० ३२ । ८

यहाँ 'सम्' और 'वि' दो पूर्व-व्यवहित उपसर्ग 'एति' क्रिया से मिलकर दो विरूद्धार्थक क्रियाएं 'समेति' और 'व्येति' बना रहे हैं।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
यजु० ३२। १०

यहाँ 'परि' उपसर्ग 'इत्य' क्रिया पद के साथ जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार वेद में सभी उपसर्ग विविध सौन्दर्य के साथ प्रकट हुए हैं। भाषा के ये तत्त्व भी वेद की ही देन हैं।

समासः--

वेद में सभी प्रकार के समास और सन्धियाँ देखने को मिलते हैं। उदाहरणतः निम्न वेदमंत्रों के रेखांकित पद देखें:—

प्राणापानौ चक्षुः सोमम् अक्षितिश्च या। अथर्व० ११। ८। २६
(द्वन्द्व नञ्)

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः। अथर्व० १। १७। १
(बहुव्रीहि)

स्वस्तिदा विशांपति वृत्रहा विमृधो वशी। अथर्व० १। २१। १
(उपपद तत्पुरुष)

वेद में यद्यपि सभी प्रकार के समासों के तत्त्व पाये जाते हैं, तो भी बाणभट्ट की सी विकट समस्त पदावली वेद में नहीं है, क्योंकि या मातृरूपा-प्रभु की दी हुई वाणी है।

सन्धियां: --

वेद सन्धियों का भी मूल उद्‌गम है। उस में पाई जाने वाली सन्धियाँ लौकिक सन्धियों से भी अधिक हैं। ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १२० वें सूक्त की कुछ सन्धियां उदाहरणार्थ दी जाती हैं:—

समवर्तताग्रे=सम्+अवर्तत+अग्रे=दीर्घसन्धि।

पतिरेक आसीत्=पतिः+एकः+आसीत्=रुत्व य्लोप।

स दाधार=सः+दाधार=सुलोप।

उतेमां कस्मै=उत+इमाम्+कस्मै=गुण, अनुसार।

य आत्मदा=रुत्व, य्लोप।

विश्व उपासते=विश्वे+उपासते=अयादि, य्लोप।

यस्यच्छायाऽमृतम् = तुक् आगम, दीर्घ ।

प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा = रुको उत्व, गुण, वृद्धि, जश्त्व ।

द्विपदश्चतुष्पदः = श्चुत्व, षत्व ।

यो अन्तरिक्षे = रुको उत्व, गुण, प्रकृतिभाव ।

त्वदेतान्यन्यो विश्वा = जश्त्व, यण्, उत्व, गुण ।

कामास्ते = कामाः + ते = विसर्गस्य सः ।

तन्नो = तत् + नः = परसवर्ण ।

रयीणाम् = रयि + नाम् = दीर्घ, णत्व ।

वाक्य-रचना—

वाक्यों के कई भेद माने जाते हैं—साधारण, प्रश्नबोधक, इच्छा-बोधक, विस्मयादिबोधक, आशीर्बोधक । वेदों में सभी प्रकार उपलब्ध हैं—

अग्ने नय सुपथा राये— साधारण ।

कस्त्वा युनक्ति, स त्वा युनक्ति—प्रश्न, उत्तर ।

इमां निदधानीह वेह वा = इच्छा ।

न नूनमस्ति नोश्वः = विस्मयादिबोधक ।

एव यजस्व तन्वं सुजातः = आशीर्बोधक ।

वाक्य-रचना वेदों में अधिकतर पद्य में है, परन्तु गद्य में भी रूप यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में पाये जाते हैं; जैसेः—

तस्मै प्राच्या दिशः ।। १५ । ४

वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्-बृहच्च रथन्तरं चानुष्ठातारौ ।। १५।५

छन्द—

भाषा के तत्त्वों में छन्दों का भी बहुत महत्त्व है । वेद द्वारा वर्ण-छन्दों का बोध होता है, जिनसे आगे चलकर अन्य वर्ण एवं मात्रिक छन्दों का विकास हुआ । छन्दों के सम्बन्ध में यह मंत्र दर्शनीय हैः—

यद् गायत्रे अधिगायत्रमाहितम् त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत ।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं, य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ।।

ऋ० ११६ । २३

इसी प्रकार अनुष्टुभ, पंक्ति; अति जगती आदि छन्दों का भी विकास वेदों से ही हुआ । निम्न मंत्र के पद देखियेः—

इयत्तकः कुषुम्भकः, तकं भिनद्म्यश्मना ।
ततो विषं प्र वावृते, पराचीरनु संवतः ।। ऋ० १ । १९ । १५

इसके तीन चरणों में प्रमाणी छन्द है। प्रमाणी से ही समानी चामर, पञ्चचामर, भुजंगप्रयात, तोटक तथा सवैयों का विकास हुआ है। वेदों के गम्भीर अध्ययन से अनेक छन्दों का विकास स्पष्ट दिखाई दे जायेगा।

अलंकार—

काव्य भाषा के शरीर का निर्माण भाषा के तत्त्व ही करते हैं। उन तत्त्वों में अलंकारों का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेद में उपमा, रूपक, विरोधाभास, परिसंख्या आदि कई अलंकार स्पष्ट दीखते हैं। कुछ अलंकारों की छटा देखिए। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ३४ वें सूक्त के ही अलंकार पहले देखियेः—

(१) **सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदकोजा गृविमह्यमच्छान् ॥**

॥ उपमा ॥

(२) **न मा मिमेथ न जिहील एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् ॥**

(३) **अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ॥**

॥ विषमालंकार ॥

(४) **द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि ना नाथितो विन्दते मर्डितारम् ॥**

॥ दीपक ॥

(५) **अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपना तापयिष्णवः।**
कुमारदेष्ण्या जयतः पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा ॥
—अनुप्रास, उल्लेख, विरोधाभास, एकावली।

(६) **राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति — व्यतिरेक, अर्थापत्ति।**

(७) **नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।**
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥
— विरोधाभास, माला, व्यतिरेक, विभावना।

यह तो एक सूक्त की बात है। वेद में श्रेष्ठ उपमाओं की भरमार सर्वत्र है। "आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा" में क्षिप्रातिशयोक्ति कितनी सुन्दर है।

उपसंहार—इस छोटे से लेख में वर्ण, पद, वाक्य, छन्द, अलंकार, आदि का बहुत संक्षिप्त विवेचन किया गया है। भाषा के मुख्य तत्त्व यही है। शेष भावतत्त्व और कल्पना तत्त्व भी वेद में स्थान-स्थान पर देखे जा सकते हैं।

अथर्व वेद में भाषा-सम्बन्धी विचार

—डा० कृष्णलाल

"अनन्ता वै वेदा;—वस्तुतः ईदृक्ता और इयत्ता—दोनों दृष्टियों से वेदों का अनन्तत्व स्वयंसिद्ध है। वेद ज्ञान के अथाह सागर हैं। सम्भवतया इसीलिये मनीषियों ने "वेदानां" विश्वतोमुखत्वम्" वेदों का या उनके अर्थों का प्रसार सभी प्रकार हो सकता है, तथा "सर्वं वेदात् प्रसिध्यति", वेद से सब कुछ सिद्ध होता है, जैसी उक्तियां की हैं। आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द ने इन विचारों को और अधिक स्पष्ट करते हुए वेद को सब सत्य विद्याओं अर्थात् सब का कल्याण करने वाली और वास्तविकता पर आधारित विद्याओं का ग्रन्थ बताया है।

वस्तुतः वेद में सभी महत्त्वपूर्ण विद्याओं के मूल तत्त्व बिखरे हुए अवश्य मिल जाते हैं। इसी प्रकार वाक् या भाषा-सम्बन्धी चिन्तन वेद में प्राप्त होना तो अत्यन्त स्वाभाविक है क्योंकि स्वयं वेद वाङ्मय है। [प्रस्तुत निबन्ध में केवल अथर्ववेद तक सीमित रहकर वैदिक भाषा सम्बन्धी विचार पर चर्चा की जा रही है।]

भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न भाषा वैज्ञानिकों में चर्चा के प्रमुख विषयों में से एक रहा है। यद्यपि इस विषय में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं तथापि किसी एक सिद्धान्त को पूर्णतया त्रुटिरहित नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार अन्य सभी तत्त्वों की उत्पत्ति का स्पष्ट आधार न ढूंढ़ सकने के कारण उनकी दिव्य उत्पत्ति स्वीकार कर ली जाती है, उसी प्रकार भाषा की भी दिव्य उत्पत्ति स्वीकार की जाती है। वेद में सर्वप्रथम भाषा की दिव्य उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में भाषा को दिव्य बताया गया है।[1]

एक अन्य मन्त्र में बताया गया है कि मनुष्यमात्र द्वारा बोली जाने वाली समस्त वाणियां किसी अपूर्व तत्त्व द्वारा प्रेरित हैं और ये सारे पदार्थों तथा भावों का यथोचित वर्णन करती हैं। बोलती हुई ये वाणियां जहां

---

१. दैव्यं वचः—अथर्व० ७,१०५,१।

पहुंचती हैं उसे महान् परम ब्रह्म कहते हैं।[1] अर्थात् भाषा का अन्तिम लक्ष्य वर्ण्यविषय परब्रह्म ही है।

यह अपूर्व तत्त्व जिससे वाणी प्रेरित होती है, कोई ऐसा ही तत्त्व है जिससे पूर्व और कुछ नहीं, जो सृष्टि की आदि सत्ता है और स्वयं अनादि है। इसको अन्यत्र स्कम्भ का नाम दिया गया है। ऐसा उल्लेख है कि वह मूल विश्व का आधारभूत अलौकिक तत्त्व सूर्य से भी पूर्व और प्रथम उषा से भी पूर्व विभिन्न वस्तुओं के नामों को नाम ले लेकर पुकारता है।[2] और यही भाषा की प्रथम उत्पत्ति है। इसकी तुलना मनु के इस कथन से की जा सकती है कि उसी ब्रह्मा ने आरम्भ में वेद के शब्दों में से ही सब के नामों को, कर्मों को और रूपों को पृथक्-पृथक् बनाया।[3]

सृष्टि के आरम्भ में जा शाश्वत ऋत नामक नियम था उससे ही यह सात सिरों वाली अर्थात् सात प्रमुख उच्चारणस्थान वाली भाषा उत्पन्न हुई।[4] ध्यान देने योग्य बात है कि यहां वाणी को "धी" कहा गया है। वस्तुतः भाषा का मस्तिष्क से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही इस नाम का प्रयोग किया गया होगा।

अथर्ववेद में वाणी के लिये "गो" शब्द का प्रयोग भी हुआ है।[5] और वहां उसे बुद्धियों द्वारा प्रेरित किये जाने का भी उल्लेख है। कहा गया है कि विद्वान् लोग सत्य मन से गौओं अर्थात् वाणियों तथा उनके स्वामी अर्थात् स्रष्टा की ओर जाते हुए बुद्धियों के द्वारा वाणियों को प्रेरित करते हैं। यहीं पर यह बताया गया है कि महान् से महान् का पालनकर्ता बृहस्पति अपनी युक्तियों से वाणीरूपी गौओं की सृष्टि करता है।[6] यही अनेक वर्णों वाली

---

१. अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥ अथर्व० १०,८,३३॥

२. नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः। अथर्व० १०।७।३।।

३. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० १।२१॥

४. इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्॥
अ० २०।९१।१, तु० ऋ० १०।६७।।

५. गौरमीमेत्। अ० ९।१०।६, तु० ऋ० १।१६४।२८, द्र० वासुदेवशरण अग्रवाल, वेदरश्मि, पृ० ५॥

६. ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः।
बृहस्पतिर्मिथो अवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः॥ अथर्व० २०।९१।८

पृश्नि गौ है जो निरन्तर गतिशील रहती है ।[1] इसी वाणी को महान् बताया गया है और कहा गया है कि स्रष्टा ने इसे दो जबड़ों के मध्य स्थापित जिह्वा पर आधारित किया है ।[2]

भाषा मनुष्य के पास एक सशक्त तत्त्व है। निस्सन्देह भाषा का मनुष्य को महान् बनाने में अद्वितीय योगदान है। अथर्ववेद में भाषा की गहनीयता अनेक प्रकार से अभिव्यक्त की गई है। भाषा को विराट् कहा गया है।[3] भाषा वैश्वानरी है,[4] सब लोगों में इसका विस्तार है, सब को ले जाने वाली है। भाषा के माध्यम से मनुष्य अपने विचार एक दूसरे तक पहुंचाता है। भाषा तीस स्थानों पर विराजित है अर्थात् वह मास के तीस दिनों के रूप में सम्पूर्ण काल में व्याप्त है अथवा अनेक जनों एवं राष्ट्रों में विराजित है ।[5] अपनी-अपनी भाषाओं के द्वारा ही सब जन संसार के एक मात्र शासक परमेश्वर का स्तुतिगान करते हैं।[6] वाणी के इस महत्त्व को देखते हुए ही उसे "वाग्देवी" बताया गया है । वह परमेष्ठिनी अर्थात् सर्वोच्च पद पर आसीन है। वह ब्रह्म अर्थात् वेद के द्वारा और अधिक पैनी या प्रभावशाली हो जाती है। इसकी शक्ति इतनी अधिक है कि एक ओर वह घोर या युद्ध, कलह आदि रूपी भयानक परिणाम उत्पन्न करती है, दूसरी ओर वह अपनी पीयूषधारा से सुखयित्री शक्ति से शान्ति का प्रसार करती है।[7] भाषा भाषा के अन्तर से बड़े बड़े युद्ध भी हो जाते हैं और उसी से वे शान्त भी हो जाते हैं। भाषा एक अद्वितीय साधन है।

---

१. आय गौः पृश्निरक्रमीत्—अ० २०।४८।४, द्र० वासुदेवशरण अग्रवाल, वेदरश्मि, पृ० ५ ।

२. हन्वोर्हिजिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ॥ अथर्व० १०।२।७ ।

३. विराट् वाक्—अथर्व० ९।१०।२४ ।

४. वैश्वानरीं सूनृतामारभध्वम् । अथर्व० ६।६२।२ ।

५. त्रिंशद्धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत् ।
प्रतिवस्तोरहर्द्युभिः । अथर्व० २०।४८।६ ।

६. इन्द्रं वाणीरनुषत ॥ अथर्व० २०।४७।४ ।

७. इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता ।
ययेव ससृजे घोरं तयेव शान्तिरस्तु नः ॥ अथर्व० १९।९।३ ।

इस दिव्य वाणी के सब ओर सभी प्रजाजन हैं अर्थात् सबको भाषा का प्रयोग करना ही होता है। "सत्य बोलने में भी मैं भाषा का प्रयोग करता हूँ और झूठ बोलने में भी।"[1] दूर-दूर तक जिनका पृष्ठ अर्थात् ऊपर का भाग फैला हुआ है, ऐसी दिशायें उस वाणी के शरीर हैं। उसी का प्रयोग करते हुए हम सामूहिक आमोद प्रमोद के अवसरों पर धन के स्वामी हो सकते हैं।[2]

इसीलिये अथर्ववेद में विविध प्रकार की भाषायें और बोलियां बोलने वाले लोगों को धारण करने वाली के रूप में भूमि की स्तुति की गई है।[3] इस पृथ्वी पर अनेक प्रकार के लोग अपनी-अपनी विविध भाषायें बोलते हैं। भाषारूपी तत्त्व का बहुत विस्तार है। आकाश का गुण शब्द है और हृदयरूपी आकाश में शब्द की व्याप्ति रहती है। इसीलिये यह कहा गया है कि वाणी का परम आकाश यह ब्रह्मा अर्थात् ज्ञानराशि का ज्ञाता विद्वान् ही है।[4] अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वाणी या शब्द आकाश में व्याप्त है उसी प्रकार वह विद्वान् में भी व्याप्त रहती है। सृष्टि के आरम्भ से यह वाणी व्याप्त हो रही है। यही समष्टिरूपा वाणी सृष्टि की उत्पत्ति के सलिलरूपी मूल साधन से विविध शब्दोंरूपी व्यष्टियों को घड़ती चली जाती है। यही एक अक्षर वाले पदों का निर्माण करती है, दो अक्षरों, चार अक्षरों; आठ अक्षरों, नौ अक्षरों वाले पदों में परिणत होती हुई पूर्ण भाषा का निर्माण करती है। यही सहस्रों अक्षरों वाली वाणी के रूप में संसार की एक सामान्य पंक्ति होकर प्रकट होती है। उसी वाणी के आधार पर सारे हृदयरूपी समुद्रों की भावनायें प्रकट होती हैं[5]। वासुदेव शरण अग्रवाल ने वाणी में एकपदी

---

१. अहं सत्यमनृतं यद्वदाम्यहं देवीं परि वाचं विशश्च ॥ अ० ६।६१।२,३।

२. यस्या आशास्तनवो।

वीतपृष्ठाः। तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ अ० ६।६२।२।

३. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसम्। अथर्व० १२।१।४५।

४. ब्रह्मायं वाचः परमं व्योऽम। अथर्व० ६।१०।१४।

५. गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी सा चतुष्पदी
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पंक्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ अथ० ६।१०।२१,१३।१।४२।

रूप को उसका अव्यक्त रूप माना है। उनके अनुसार द्विपदी रूप वह है जब उस अव्यक्त या समष्टि रूप वाणी में कोई एक प्रथम अक्षर की सृष्टि होती है। चतुष्पदी रूप की व्याख्या भाषा के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपों से होती है। अष्टपदी का सम्बन्ध उन्होंने आठ वस्तुओं से बताया है। वाणी का अग्नितत्त्व से सम्बन्ध उपनिषदों में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है— अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। मन, प्राण, अपान और पांच भूत ही आठ वसु हैं। ये ही अग्नि के आठ रूप हैं। नवपदीरूप के विषय में उनका कहना है कि यहां नौ का अंक बड़ी से बड़ी संख्या का द्योतक है। अर्थात् जितने भी भाषा के नये नये रूप बनते हैं उन सबका प्रतीक यह नौ का अंक है। "सहस्राक्षरा का संकेत उस वाक् से है जो पारमेष्ठ्य समुद्र में गौरी रूप में भरी हुई परमेष्ठिनी या आम्भृणी वाक् है। अमृता या सहस्राक्षरा वाक् को अर्थ कहा जा सकता है और मर्त्या वाक् को शब्द। अर्थ के रूप में वाक् नित्य है और शब्द के रूप में अनित्य। अर्थ अपरिमित है और शब्द परिमित।[1]

इसी भाषा को सरस्वती कहा गया है और उससे प्रार्थना की गई है कि "तुम्हारा जो शब्दरूपी स्तन सब मानवी प्रजाओं को वाणीरूपी दूध पिलाने का अभिलाषी है, जो सुखप्रद है, मनःशान्तिरूप सुख देने वाला है, सरलता से आह्वानयोग्य है और अच्छा दाता है, जिसके द्वारा तुम समस्त वरणीय पदार्थों का पोषण करती हो, उसे पानार्थ मुझे प्रदान करो"।[2] स्तन शब्द का वाचक है क्योंकि इसके मूल में शब्द करना अर्थ वाली स्तन् धातु है। सायण ने भी स्तन को लौकिक तथा वैदिक शब्दरूप स्तन माना है। शशयुः का अर्थ उसके अनुसार माता के स्तन के समान शिशुरूप प्राणियों का पोषण करने वाला है।[3] इस प्रकार भाषा सबको ज्ञानरूपी दूध का पान कराने वाली माता है।

यह वाणी मनुष्य जीवन में तीन रूपों में प्रकट होती है। वस्तुतः उसका उच्चरित शब्द के रूप में प्रकाशित तथा श्रव्य रूप तो एक ही है जिससे प्रायः हम परिचित होते हैं। दो और रूप गुप्त तथा अप्रकाशित ही रहते हैं। सम्भवतया भाषा की इसी विशेषता को संकेतित करते हुए अथर्व-

---

१. वेदरश्मि, पृ० ५६-६०

२. यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयो भूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः॥ अ० ७।१०।१।

३. लौकिकवैदिकसुशब्दरूपः स्तनः। शशयुः स्तनवच्छिशुस्थानीयानां प्राणिना-माप्यायनकारी।

वेद में वरुण अर्थात् सर्वव्यापी ज्ञान की तीन दीप्तिमती जिह्वाओं का उल्लेख किया गया है। उनके मध्य जो शासन करती है या सर्वाधिक प्रभावशाली है वही वास्तव में गौ या वाणी है और वह दुष्प्रतिग्रहा है अर्थात् कठिनाई से ग्रहण की जाती है।[१] यहां स्पष्ट रूप से पश्यन्ती वाक् की ओर संकेत है जो मनुष्य के अन्तर्मन में विचार रूप में स्थित रहती है और प्रकट होने वाली वाणी को नियन्त्रित रखती है। वह प्रकट नहीं होती परन्तु वही प्रमुख प्रेरणा-शक्ति है। इसी प्रकार बताया गया है कि मनुष्य शुभ अशुभ सब प्रकार की वाणियों को धारण करती है। ये सब वाणियां तीन प्रकार की होकर मनुष्य के भीतर स्थित हैं। उनमें से केवल एक शब्दों में गति करती है अर्थात् प्रकट होती है।[२] मनुष्य के मिथ्या नश्वर शरीर में बुद्धिरूपी गुहा में स्थित वाणियां दो शक्तियों, पश्यन्ती और मध्यमा के द्वारा तो नीचे अर्थात् गहन अप्रकट स्थान में रहती हैं और एक वैखरी के द्वारा प्रकट होती हैं। वाणी का पालक बृहस्पति अन्धकार अर्थात् अज्ञान में ज्योति अर्थात् ज्ञान की इच्छा करता हुआ उन गौओं अर्थात् वाणियों को प्रेरित करता है और वे तीनों अपने-अपने रूप में प्रकट होती हैं अर्थात् कार्य करती हैं।[३] वस्तुतः उन तीनों की अनुभूति तो चिन्तन द्वारा हो सकती है, परन्तु सामान्य व्यवहार में एक ही प्रकट होती है। अतः यहां तीनों रूपों के प्रकट होने का भाव उनका कार्यरूप में परिणत होना ही है।

इन तीन वाणियों में एक परा सर्वव्यापिनी वाणी को मिलाकर जिस प्रकार चार वाणियां भाषाशास्त्री मानते है उनका मूल संकेत भी वेद में प्राप्त होता है। अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के एक मन्त्र में उल्लेख है कि वाणी को अथवा चार रूपों में मापे गये उसके स्वरूप को या परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में निर्धारित किये गये रूपों को अथवा भाषा के चार प्रकार के पदों, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, को वे ही विद्वान् जानते हैं जो मनीषी अर्थात् चिन्तनशील हैं। इस वाणी के तीन रूप परा, पश्यन्ती,

---

१. तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥ अथर्व० १०।१०।२८

२. शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः,
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥
अ० ७।४३।१

३. अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥
अ० २०।९१।४, ऋ० १०।६७।४।

मध्यमा, तो बुद्धिरूपी गुहा में स्थित हैं और वे गतिशील नहीं होते। वाणी के केवल चौथे रूप "वैखरी" को ही मनुष्य बोलते हैं।[1] यह भी कहा जा सकता है कि चारों रूपों में जो समस्त वाणी विद्यमान है, उसमें से केवल उसका चतुर्थांश ही बोलने में प्रकट होता है। वाणी इतनी व्यापक है कि उसका तीन चौथाई कभी भी प्रकट नहीं होता।

वाणी के उपर्युक्त चारों रूपों की प्रक्रिया के विषय में एक अन्य मन्त्र में विवरण दिया गया है कि "जो मनीषी अपनी प्रज्ञा से वाणी के अग्र भाग अर्थात् अव्यक्त सर्वव्यापक रूप को समझते हैं, या जो मन से अर्थात् विचार रूप में ऋतों अथवा शाश्वत नियमों को बोलते हैं, वे तृतीय ज्ञान के द्वारा अर्थात् वाणी के तृतीय रूप मध्यमा के द्वारा बढ़ते हुए या अपना विस्तार करते हुए वाणीरूपी गौ के नाम को या प्रकट रूप को चतुर्थ अर्थात् वैखरी के द्वारा जानते हैं"।[2] भाषाविद् वाणी के परा रूप को सर्वव्यापक अव्यक्त रूप में समझते हैं। वे यह समझते हैं कि मनुष्य तक सीमित वाणी के अतिरिक्त भी उसका एक ऐसा रूप है जो सबसे पूर्व है और जिससे सब अनायास ही अपनी अपनी आवश्यकतानुसार अपेक्षित तत्त्व ग्रहण करते रहते हैं। दूसरा रूप पश्यन्ती है जिसमें जो कुछ बोलना या लिखना होता है वह मन में विचाररूप में प्रस्फुटित होता है। फिर मध्यमा रूप में वह विचार शरीरस्थ वायु को प्रेरित करता है और तब स्वरयन्त्रों के कम्पन से वैखरी अथवा स्वर-व्यंजनरूप में सुनी जाने योग्य वाणी या भाषा उच्चारण द्वारा प्रकट होती है। भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में वाणी के सूक्ष्म और स्थूल दो रूप स्वीकार किये हैं। परा, पश्यन्ती और मध्यमा—ये तीनों ही सूक्ष्म रूप के अन्तर्गत आते हैं—इनमें ही आभ्यन्तर ज्ञान स्थित रहता है। वही ज्ञान अभिव्यक्ति के लिये शब्दरूपा वैखरी में परिणत होता है।[3]

---

१. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि बिदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
अ० ९।१०।२७, ऋ० १।१६४।४५।

२. धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः॥ अ० ७।१।१

३. अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥ वाक्य० १।११३।
तु० परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा। परमलघुमंजूषा,

भाषाशास्त्र का मुख्य विषय इस उच्चारणीय और श्रव्य वैखरी से ही सम्बद्ध है। अथर्ववेद में इसकी क्रियाओं के प्रकार और साधन बताये गये हैं। एक मन्त्र में जहां वाणी के स्वामी बृहस्पति को सात मुखों वाला कहा गया है[1] वहां सम्भवतया वाणी के मुखस्थित सात उच्चारणस्थान, कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका और जिह्वा, अभिप्रेत हैं। वहीं बृहस्पति को सात किरणों वाला निर्दिष्ट किया गया है और कहा गया है कि उसने अन्धकारों को शब्द से नष्ट किया।[2] यहां सम्भवतया सात किरणों से भाषा के सात प्रमुख तत्त्व नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, उच्चारण, वाक्य और अर्थ अभिप्रेत हैं। सायण के अनुसार सात मुख सात छन्द हैं और सप्तरश्मि का अर्थ सर्पण स्वभाव वाले तेज से युक्त है।[3]

अथर्ववेद में एक अन्य स्थान पर भाषा के दो प्रमुख तत्त्वों-नाम और आख्यात के अवयवों का भी संकेत किया गया प्रतीत होता है। कहा गया है कि "मैं इन्द्र अर्थात् प्रथम उपदेष्टा से वाणी और उसके शरीर को मापता हूं। उस वाणी को जो आठ पदों वाली है और नौ किनारों वाली है तथा जो ऋत अर्थात् शाश्वत ज्ञान का स्पर्श करने वाली है।[4] स्पष्ट ही वाणी के आठ पदों से प्रथमादि सात विभक्तियां और आठवां सम्बोधन अभिप्रेत हैं। दूसरी ओर नौ किनारों से आख्यातों के प्रत्येक लकार में तीनों पुरुषों और तीनों वचनों के नौ रूप लक्षित होते हैं। एक अन्य मन्त्र में जहां सात वाणियों का उल्लेख है वहां सात प्रमुख छन्द गायत्री, अनुष्टुप, पङ्क्ति त्रिष्टुप, जगती, उष्णिक् और बृहती अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। इस पद्यमयी वाणी के भी अक्षरों की संख्या के आधार पर दो पादों और चार पादों में मापे जाने का उल्लेख है। इसे वाणी के द्वारा वाणी का मापना बताया गया है।[5] वाणी के द्वारा वाणी के मापन का उल्लेख वाणी की श्रेष्ठता सिद्ध करता है। जिस प्रकार पदार्थों को मापने के स्वभिन्न अन्यान्य मानदण्ड होते हैं उस प्रकार वाणी का कोई स्वभिन्न मानदण्ड नहीं हो सकता। वाणी की विशेषता इस बात में है कि अपना मानदण्ड वह स्वयं है।

यह वाणी ही सबका हृदय जीत लेने वाली है। अतः अथर्ववेद में प्रतिज्ञा है कि मैं जो कुछ बोलता हूँ वह माधुर्ययुक्त ही बोलता हूँ—

यद् वदामि मधुमतद्वदामि ।।[6]

---

१. तुरीयं, स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्यं उक्थमिन्द्राय शंसन् ।।अथर्व० २०।६१।१।
२. सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ।।
अ० २०।८८।४, ऋ० ४।५०।४।
३. सप्तास्यः सप्तछन्दोमुखः, सप्तरश्मिः सर्पणस्वभावतेजोयुक्तः। स्वामी दयानन्द ने इस प्रसंग में बृहस्पति को सूर्य माना है।
४. वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्। इन्द्रात् परि तन्वंऽममे ।।
अथर्व० २०।४२।१।
५. वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ।।अथर्व० ६।१०।२।
६. अथर्व० १२।१।५८।

शिक्षा और प्रातिशाख्य में भाषा-चिंतन

—डा० भोलानाथ तिवारी

भाषा के क्षेत्र में चिंतन और कार्य की परंपरा भारत में बहुत ही प्राचीन है, बल्कि विश्व में प्राचीनतम है। इसमें मुख्यत: तीन धाराएं आती हैं। पहली है व्याकरण की जिसकी चरम परिणति पाणिनि में मिलती है, दूसरी है अर्थ की जो न्याय, बौद्ध-दर्शन तथा भर्तृहरि आदि में अक्षुण्ण है तथा तीसरी है ध्वनि की जिनमें शिक्षा और प्रातिशाख्य अग्रगण्य है। ध्वनि-विश्लेषण की भारतीय परंपरा के संबंध में राबिन्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'अ शार्ट हिस्ट्री आफ् लिंग्विस्टिक्स' में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सैद्धांतिक चिंतन तथा अनुप्रयोग दोनों ही क्षेत्रों में भारतीय ध्वनि-विज्ञान पश्चिम से बहुत आगे है (What is more remarkable about Indian phonetic work is its manifest superiority in conception and execution as compared with any thing produced in the west. page 141)

(प्रसिद्ध भाषाशास्त्री एमेन्यू ने २० अप्रैल १८५५ को टोटो के भाषा-विज्ञान के एक सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में भी प्राय: ऐसी ही बात कही थी।)

राबिन्स ने सिद्धान्त तथा प्रयोग की बात की है। सिद्धान्त की दृष्टि से भारतीय ध्वनिविज्ञान में शिक्षा ग्रन्थ मुख्य हैं तथा प्रयोग की दृष्टि से प्रातिशाख्य उल्लेख्य हैं। यों इसमें संदेह नहीं कि एक ओर कुछ सैद्धान्तिक बातें प्रातिशाख्यों में भी हैं तो कुछ प्रायोगिक बातें शिक्षाओं में भी हैं।

ऐसा अनुमान लगाना उचित ही लगता है कि पहले कुछ सैद्धान्तिक तथा शिक्षा ग्रन्थ लिखे गये होंगे बाद में उनके आधार पर प्रातिशाख्यों की रचना की गई हो। आगे चलकर मूल शिक्षा ग्रन्थ लुप्त हो गए तथा कुछ नए शिक्षा ग्रन्थ बने। आज जो शिक्षाएं उपलब्ध हैं वे ये ही परवर्ती शिक्षाएं हैं। मेरा अपना अनुमान यह है कि 'शिक्षा' का मूल नाम 'उच्चारण शिक्षा' था जो बाद में केवल 'शिक्षा' कहा जाने लगा। अभी तक सारी उपलब्ध शिक्षाओं का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है। यों जो शिक्षा ग्रन्थ मैंने देखे हैं, उन के आधार पर मेरा अनुमान है कि अस्सी के लगभग शिक्षा ग्रन्थ इस

समय उपलब्ध हैं। 'प्रातिशाख्य' वेदों की अलग-अलग शाखाओं से संबद्ध थे, क्योंकि प्रत्येक शाखा का उच्चारण अन्यों से कुछ अलग था। इस समय लगभग आठ प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं। शिक्षाओं और प्रातिशाख्यों को मिलाकर यदि देखें तो उच्चारण-विषयक लगभग सारी-की-सारी बातें काफी सूक्ष्मतया से वर्णित हैं। जो विद्वान् अंग्रेजी, रूसी आदि के ध्वनि विज्ञान विषयक ग्रन्थों से परिचित हैं, वे यह कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षाओं और प्रातिशाख्यों में जो ध्वनि-विषयक कार्य हैं, उनसे अधिक विस्तृत कार्य अभी किसी भी अन्य भाषा में नहीं हुआ है। यदि शिक्षाओं और प्रातिशाख्यों को जोड़ दें तो इनकी संख्या लगभग ८८ है, और किसी भी एक भाषा में ध्वनि-विषयक इसकी आधी भी पुस्तकें शायद ही मिल सकें। शिक्षा ग्रन्थों की गहराई का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि ध्वनि के एक-एक पक्ष पर अलग-अलग शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए स्वर-व्यञ्जन पर अलग शिक्षा है 'स्वर-व्यञ्जन शिक्षा' तो स्वर पर अलग है 'स्वराष्टक शिक्षा', स्वर भक्ति पर अलग शिक्षा है 'स्वर भक्ति शिक्षा'। ध्वनियों की मात्रा पर तीन-तीन शिक्षाएं हैं : 'कालशिक्षा', 'कालनिर्णयशिक्षा', तथा 'ह्रस्वदीर्घप्लुत मात्रा लक्षणशिक्षा'। यहां संक्षेप में कुछ बातें 'मात्रा' को लेकर कही जा सकती हैं जिनके आधार पर इन ग्रन्थों की गहराई तथा सूक्ष्मता का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है।

'मात्रा' का अर्थ है उच्चारण में लगने वाले काल की मात्रा। तीन शिक्षा ग्रन्थ इसी विषय पर मिलते हैं एवं कई प्रातिशाख्यों में भी इसका विस्तृत विवेचन है, यों कई व्याकरणों में भी यह विषय बतलाया गया है। गहराई से देखें तो उच्चारण में लगने वाले समय के विवेचन में दो बातें आती है। बोलने की गति तथा स्वर-व्यंजन आदि की मात्रा।

पहले बोलने की गति लें। इस पर कई भारतीय ध्वनिशास्त्रियों ने विचार किया है। जिनमें से कुछ मुख्य मत यहां देखे जा सकते हैं। सामान्यतः यह काफी विद्वानों ने माना है कि बोलने की गति तीन प्रकार की होती है—द्रुतगति, मध्यम गति तथा विलंबित गति। इनका अनुपात काफी लोगों ने अपने-अपने ढंग से किया है। जिसका अर्थ यह है कि एक दूसरे का अनुकरण न करके स्वतंत्र चिंतन और विश्लेषण के आधार पर विद्वानों ने अपना-अपना मत निर्धारित किया है। उदाहरणार्थ—

		द्रुत	मध्यम	बिलंबित
(१)	पाणिनि शिक्षा			
(२)	कैय्यट	६	१२	१६
(३)	ऋक्तंत्र व्याकरण	३	४	५
(४)	मांडूकी शिक्षा	१	२	३
(५)	कुछ अन्य लोग (उवट के अनुसार)	१६	२०	२५

शार्ट हैंड वालों ने आजकल यंत्र से तीनों (द्रुत, मध्यम, बिलंबित) की गति नापकर जो अनुपात निकाला है वह लगभग यही है। १२०, १४०, तथा १८० शब्द प्रति मिनट।

मांडूकी शिक्षा के अनुसार मध्यम का प्रयोग ठीक है। द्रुत में अस्पष्टता दोष आ जाता है तथा विलंबित गति से बोलने में उच्चारण की गलतियों पर श्रोता के ध्यान चले जाने की संभावना होती है। अन्य दो में ये गलतियां पकड़ में प्रायः नहीं आतीं। इसका आशय यह है कि भारतीय ध्वनिशास्त्रियों का ध्यान केवल सैद्धांतिक अध्ययन-विश्लेषण पर ही नहीं था, व्यावहारिक कठिनाइयों आदि पर भी था। ऐसे ही ऋक्प्रातिशाख्यकार ने तीनों गतियों के तीन अलग-अलग संदर्भों का संकेत किया है। उसके अनुसार वेदपाठ में द्रुत गति का, सामान्य बातचीत में मध्यम गति का तथा विद्यार्थियों को पढ़ाने-समझाने में बिलबित गति का प्रयोग होना चाहिए। अर्थात् संदर्भ की दृष्टि से ये तीनों परिपूरक वितरण (complimentary distribution) में हैं और अपने-अपने प्रसंग में तीनों ही ठीक हैं।

अब ध्वनियों की मात्रा की बात को लें। पश्चिमी ध्वनिशास्त्रियों ने प्रायः मात्राएं दो प्रकार की मानी हैं 'शार्ट' और 'लांग' कभी-कभी एक 'एकस्ट्रा लांग' की भी चर्चा है। शिक्षा ग्रंथों तथा प्रातिशाख्यों में मात्रा के प्रायः पांच प्रकारों का उल्लेख है, जिनकी मात्राएं मोटे रूप से ये हैं:—

ह्रस्व	१ मात्रा
क्षिप्र	$१\frac{१}{२}$ मात्राएं
दीर्घ	२ मात्राएं
प्लुत	३ मात्राएं
वृद्ध	४ मात्राएं

यों कई मात्राओं के बारे में कुछ मतभेद भी है। जैसे पतंजलि प्लुत की चार मात्राएं मानते हैं। ओऽम् लिखने वाले प्लुत में तीन ही मात्राएं मानते हैं। क्षिप्र पाराशरी शिक्षा में आया है। वृद्ध ऋक्तंत्र व्याकरण तथा लोमशी

शिक्षा में भी आया है। 'ह्रस्वदीर्घप्लुतमात्रा लक्षण शिक्षा' में प्लुत तथा वृद्ध में अंतर इस रूप में दिखाया गया है कि प्लुत तो ह्रस्व का बहुत लंबा रूप है, किंतु वृद्ध दीर्घ का बहुत लंबा रूप है। यह उल्लेख्य है कि सोवियत संघ की इस्तोनियन भाषा में सभी स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत तीनों रूपों का प्रयोग मिलता है तथा तीनों ही स्वनिमिक (Phonemic) हैं। यों जहां तक वैदिक वाङ्मय में ह्रस्व-दीर्घ के अतिरिक्त अन्यों के प्रयोग का प्रश्न है आरण्य शिक्षा के अनुसार तैत्तिरीय आरण्यक में प्लुत का सोलह बार प्रयोग है। वृद्ध भी इसी में शामिल है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार ऋग्वेद में प्लुत का प्रयोग तीन बार हुआ है। ऐसे ही अमौघानंदिनी शिक्षा के अनुसार शुक्ल यजुर्वेद में प्लुत का प्रयोग सात बार हुआ है।

मात्रा पर एक अन्य प्रकार से भी भारतीय ध्वनिशास्त्रियों ने विचार किया है :

(१) **अणु**—शंभु शिक्षा के अनुसार मात्रा का सर्वाधिक छोटा रूप 'अणु' है। मेरे अपने विचार में यह चौथाई मात्रा के लगभग है। उवट के अनुसार शब्दांत घोष व्यंजन के स्फोट (off-glide) की मात्रा एक अणु होती है। अर्थात् बृहद्, सम्यग् आदि के द् ग् में यही है।

(२) **परमाणु**—यह दो अणु के बराबर कहा गया हैं। वाजसनेयी प्रातिशाख्य के अनुसार इसकी मात्रा आधा ½ होती है, जो ठीक प्रतीत होती है। सामान्यतः व्यंजन की मात्रा यही होती है।

(३) **मात्रा**—इसे चार अणु के बराबर कहा गया है। मात्रा को लोगों ने अलग-अलग रूपों में नापा है। व्यास शिक्षा में इसे उंगली पुटकने की आवाज के बराबर कहा गया है, तो नारद शिक्षा में आंख झपकने के बराबर। ऐसे ही कुछ शिक्षाओं में इसे बिजली की चमक के बराबर कहा गया है तो ऋक् प्रातिशाख्य में बनमुर्ग पक्षी (चाष) की आवाज के बराबर। उस समय घड़ी तो थी नहीं अतः मात्रा को नापने के लिये व्यावहारिक आधार दिए गए हैं।

कालनिर्णय शिक्षा के अनुसार मात्रा के नियम तीन प्रकार के होते हैं : स्वर के, व्यंजन के तथा विराम के। स्वर ह्रस्व, क्षिप्र, दीर्घ, प्लुत, वृद्ध होते हैं। 'हमारा' में 'ह' में ह्रस्व स्वर, 'रा' में कदाचित् क्षिप्र स्वर तथा 'मा' में दीर्घ स्वर है। ह्रस्व का अतिदीर्घ रूप प्लुत है आ ऽ, ई ऽ, ऊ ऽ। दीर्घ स्वर का अतिदीर्घरूप वृद्ध है। उदाहरणार्थ आज की दृष्टि से ए ऽ, औ ऽ आदि।

व्यंजन के उच्चारण के संबंध में तीन मत हैं।

(क) इस की मात्रा आधा ½ होती है। ऋक्प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयी प्रातिशाख्य में यही मत व्यक्त किया गया है।

(ख) इसकी मात्रा एक होती है। अथर्वप्रातिशाख्य ने यह मत व्यक्त किया है।

(ग) ऋक्तंत्रव्याकरण ने व्यंजन की मात्रा कभी-कभी एक मानी है।

यंत्रों के आधार पर सामान्यतः व्यंजन की मात्रा ह्रस्व स्वर के बराबर पाई गई है, अर्थात् एक मात्रा। इस प्रकार अथर्वप्रातिशाख्य का मत ठीक है। यों सभी व्यंजन सभी स्थितियों में समान मात्रावाले नहीं होते। इस संबंध में कुछ मत इस प्रकार है :—

(अ) आपिशलि शिक्षा के अनुसार ह्रस्व के बाद नासिक्य व्यंजन दीर्घ होता है (इन) तथा दीर्घ स्वर के बाद अपेक्षाकृत ह्रस्व (आम)।

(आ) पाणिनि शिक्षा के अनुसार संघर्षी व्यंजन मात्रा में दीर्घ स्वर के समान होते हैं।

(इ) सर्वसम्मत शिक्षा के अनुसार स्वर-विहीन व्यंजन ¼ चौथाईमात्रा तथास्वर युक्त व्यंजन आधा ½ मात्रा के होते हैं।

(ई) व्यास शिक्षा के अनुसार द्वित्व व्यजन में पहला छोटा होता है तथा दूसरा बड़ा। (पक्का)

(उ) वैदिकाभरण के अनुसार एक शिक्षा यह भी मानती है कि दीर्घ स्वर के बाद व्यंजन की मात्रा कुछ छोटी होती है तथा ह्रस्व स्वर के बाद कुछ बड़ी।

विराम का विश्लेषण भी शिक्षा और प्रातिशाख्यों में काफी गहराई से हुआ है। व्यास शिक्षा में इसे मौनकाल कहा गया है। हाइटस (hiates) यही है। पारि शिक्षा के अनुसार दीर्घ स्वर के बाद ह्रस्व स्वर हो तो विराम एक मात्रा का होता है, किंतु ऋक् प्रातिशाख्य पर लिखते हुए उवट ने इसे आधी मात्रा का माना है। सिद्धेश्वर वर्मा विराम का अर्थ दो ध्वनियों के बीच श्रुति (ग्लाइड) मानते हैं। मेरे विचार में यह विवृति (जंकचर) है जिसे हिंदी में संहिता या संगम भी कहा गया है। ऋक्तंत्र व्याकरण के अनुसार दो स्वरों के बीच विराम चौथाई ¼ मात्रा का होता है किंतु दो व्यंजनों के

बीच नहीं। एक मतानुसार ह्रस्व स्वर के बीच विराम छोटा और दीर्घ स्वरों के बीच बड़ा होता है।

इसी तरह अनुस्वार की मात्रा पर भी विचार हुआ है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य इसे केवल ह्रस्व मानता है। लघुमाध्यंदिनी शिक्षा के अनुसार ह्रस्व स्वर के बाद अनुस्वार की मात्रा कुछ बड़ी होती है तथा दीर्घ स्वर के बाद कुछ छोटी। अर्थात् 'हंस' में अनुस्वार की मात्रा कुछ बड़ी होती है तो 'मांस' में कुछ छोटी।

इस तरह शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रंथों में वर्णों एवं मात्रा का काफी विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन है। प्राय: यही स्थिति ध्वनि के अन्य पक्षों के विषय में भी है, और इन्हीं सब बातों को देखकर हमारे इन प्राचीन ग्रन्थों की भाषा-सम्बन्धी मान्यताओं का यथेष्ट आदर हुआ है।

आचार्य व्याडि का भाषा-चिन्तन

डा० अरुणा गुप्ता

संस्कृत व्याकरण तथा व्याकरण दर्शन के अनेक प्राचीन लेखकों ने अपने ग्रन्थों में आचार्य व्याडि तथा उनकी कृति 'संग्रह' का ससम्मान उल्लेख किया है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार आचार्य व्याडि ने जिन प्रमुख ग्रन्थों की रचना की है।[1] वे इस प्रकार हैं,–(१) संग्रह, (२) लिङ्गानुशासन, (३) परिभाषा पाठ, (४) व्याकरण, (५) विकृत वल्ली, (६) कोश, (७) बलचरित। इन उपर्युक्त ग्रन्थों में से व्याडि की कोई भी कृति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई तथा न कहीं व्याडि विषयक प्रामाणिक सामग्री ही मिली है। परन्तु महाभाष्य तथा वाक्यपदीय के टीकाकारों (हेलाराज, हरिवृषभ, एवं पुण्यराज, द्वारा 'संग्रह' नामक ग्रंथ से उद्धृत किए गए उल्लेखों से व्याडि के भाषा-चिन्तन का किञ्चित् परिचय दिया जा सकता है।

'संग्रह' पाँच अध्यायों में विभक्त[2] तथा एक लाख श्लोक के परिमाण वाला ग्रंथ कहा गया है।[3] महाभाष्य में 'संग्रह' को सूत्रात्मक कहा गया है।[4] व्याकरण दर्शन के लेखकों ने इसे दार्शनिक ग्रन्थ कहा है जिसमें शब्द के नित्यत्व, कार्यत्व, दोष, एवं प्रयोजन आदि का विवेचन किया गया है।[5]

---

१. मीमांसक, युधिष्ठिरः "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" पृष्ठ २७८-२७९।

२. चान्द्र व्याकरण ४।१।६२ 'पञ्चक संग्रहः'। भाग १

३. वाक्यपदीय टीकाकार पुण्यराज—
इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितम्।
लक्षणग्रन्थपरिमाणम् संग्रहाभिधानम् निबन्धम् आसीत्।

४. महाभाष्य "सांग्रहः सूत्रिकः।" ४।२।६०

५. "संग्रहे तावत्प्राधान्येन नित्यो वा स्यात् कार्यो वा। तत्रोक्ता दोषाः प्रयोजनान्यप्युक्तानि तत्र त्वेषः निर्णयः। यद्येवं नित्यो अथापि कार्यः उभयथापि लक्षणम् प्रवर्त्यम् संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावात् मन्यामहे नित्यपदार्थ वाचिनो ग्रहणमिति।"

पतञ्जलि द्वारा महाभाष्य में किए गए 'संग्रह' विषयक उल्लेख पर टीका करते हुए भर्तृहरि का कथन है कि इसमें चौदह हजार वस्तुओं की परीक्षा की गयी है तथा वस्तुओं का तात्पर्य व्याकरण की दर्शन-सम्बन्धी समस्याओं से लिया गया है।[1]

व्याडि ने भाषा की व्याख्या इसके बाह्य शरीर अर्थात् शब्दार्थ स्वरूप, शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध वाक्यार्थ विचार से प्रारम्भ की परन्तु शनैः-शनैः उन्हें शरीर के अन्दर आत्मा का आभास होने लगा तथा उन्होंने इस आत्मा की स्फोट रूप में अभिव्यक्ति कर व्याख्या की। भाषाचिन्तन के लिए व्याडि ने जिन प्रमुख तत्त्वों को आधार बनाया है वे इस प्रकार हैं —(१) शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध (२) शब्दार्थ या पदार्थ का स्वरूप (३) वाक्यार्थ-विचार (४) स्फोटवाद, (५) लिङ्ग-विचार।

शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध—व्याडि के कथनानुसार लोक तथा वेद में शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध करने वाला कोई व्यक्ति नहीं है अपितु अनादि काल से ही शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य है।[2] व्याकरण के विवेचन में "अर्थ" शब्द दो अर्थों को लेकर प्रयुक्त हुआ है। अर्थ का एक अर्थ शब्दार्थ है तथा दूसरा वाच्य वस्तु। शब्द का शब्दार्थ के साथ यथा 'गौ' शब्द का 'गाय' अर्थ के साथ कब किस व्यक्ति ने सम्बन्ध किया है। यह अकथनीय है। अतः इस प्रकार के सम्बन्ध को व्यवहार परम्परा के कारण अनादि मान कर शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को नित्य कहा जाता है। शब्द के साथ अर्थ अवश्य रहता है तथा जहाँ अर्थ होता है वहाँ शब्द अवश्य रहता है। ऐसी स्थिति नहीं बनाई जा सकती, जब (सार्थक) शब्द बिना अर्थ के रहा हो तथा किसी ने शब्द व अर्थ को सम्बद्ध किया हो। यहाँ पर शब्द में अर्थ बोधकता के सम्बन्ध का अभिप्राय है, शब्द विशेष के अर्थ से सम्बन्ध का नहीं। एक बार शब्द से अर्थ का बोध होना सिद्ध होने पर बाद में आप्तोपदेश, आचार्योपदेश आदि कितने ही शब्दों की नवीन सृष्टि होती है तथा नवीन अर्थों का बोध होता है। व्याडि के मतानुसार शब्द तथा अर्थ में वास्तविक रूप से कोई

---

१. मीमांसक, युधिष्ठिरः "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" भाग १ पृष्ठ २७२

२. वाक्यपदीय १।२६ में उद्धृत 'संग्रह' का श्लोक
सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानाम् लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानाम् सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्।

भेद नहीं है व्यवहार में उनमें भेद किया जाता है।[1] शब्द तथा अर्थ में जो तादात्म्य है वह स्वयं सिद्ध है। व्याडि ने उपादान शब्दों में स्फोट तथा ध्वनि को माना है, जिनमें एक शब्द का कारण हैं तथा दूसरा अर्थ-बोधन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। बुद्धि में वह स्फोटरूप शब्द अर्थरूप होकर अभिन्नता को प्राप्त होता है अर्थात् बुद्धि में शब्द तथा अर्थ तादात्म्य भाव से रहते हैं तथा बुद्धिगत शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है।

शब्द तथा अर्थ का स्वरूप—व्याडि के मतानुसार अर्थ एवम् वर्ण-संघात का नाम ही पद है।[2] शब्दार्थ स्वरूप पर दृष्टिपात करने से पूर्व हमें देखना है कि शब्द मुख्यार्थ अर्थात् अभिधेय अर्थ में प्रयुक्त होता है या गौण-अर्थ में। शुद्ध शब्द के उच्चारण करने पर जब मुख्य अर्थात् अभिधेयार्थ बोध का विषय बनता है तो उसे मुख्यार्थ कहते हैं[3] तथा जब अन्य के प्रयोग से किसी कार्य में नियुक्त किया जाता है तो उसे गौणार्थ कहा जाता है।[4] शब्दों का स्वरूप या आत्मरूप करण या साधन का स्थान नहीं ले सकता। उसका अभिधेय नित्य रहता है। अभिज्ञान या संज्ञा का द्रव्य से सम्बन्ध हो जाने पर तुल्यरूपता के कारण असंनिहित या असंनिविष्ट वस्तु का भी समावेश तथा विनिश्चय उसी संज्ञा के द्वारा हो जाता है[5] यथा देवदत्त का

---

१. वाक्यपदीय १।२६ में उद्धृत 'संग्रह' का श्लोक—
शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकम् तत् समवस्थितम्।

२. वाक्यपदीय १।२६ में उद्धृत 'संग्रह' का श्लोक
अर्थात् पदं साभिधेयम् पदात् वाक्यार्थनिर्णयः।
पदसंघातज वाक्यम् वर्णसंघातजं पदम्।

३. वाक्यपदीय काण्ड २, पुण्यराज की टीका।
शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः।

४. वाक्यपदीय काण्ड २। २६८ पर पुण्यराज की टीका।
यस्त्वन्यस्यप्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते,
तमप्रसिद्धम् मन्यन्ते गौणार्थाभितिवेशिनम्।

५. वाक्यपदीय १।६५ पर हेलाराज की टीका।
न हि स्वरूपं शब्दानाम् गोपिण्डादिवत् करणे संनिविशते। तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसंनिवेशे सति तुल्यरूपत्वात् असंनिविष्टमपि समुच्चार्यमाणत्वेन अवसीयते।

अर्थ या उसका प्रयोग "देवों द्वारा प्रदत्त" के अर्थ में न होकर उस संकेतित पुरुष की सूचना मात्र के लिए होता है। अर्थ निर्धारण के लिए उपादान शब्दों के व्युत्पत्ति तथा अव्युत्पत्ति दोनों पक्षों को देखना आवश्यक है। अव्युत्पत्ति पक्ष में उपादान शब्द वाचक होता है किन्तु व्युत्पत्ति पक्ष में शब्द की अर्थ निहित व्युत्पत्ति का अवलोकन किया जाता है। कहीं-कहीं उपादान द्योतक भी होता है क्योंकि सोऽयं इस कथन से उसका उपयोग सम्भव है।[1]

व्याडि के अनुसार शब्द का अर्थ जाति न होकर व्यक्ति या द्रव्य है। उन्होंने द्रव्य को वेदान्त की चरम सीमा तक पहुँचा दिया है तथा उसे सर्वथा अनिर्वचनीय तथा अव्यवहार्य बताते हुए लिखा है कि न वह है, न वह नहीं है, न वह एक है, न वह अनेक है, न वह संयुक्त है तथा न वह विभक्त है। न वह विकार युक्त है, न वह विकार रहित है।[2] व्यक्ति या द्रव्य के शब्दार्थ मानने के लिए उन्होंने जो सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं वे इस प्रकार हैं।

(१) व्यक्ति को शब्दार्थ मानने पर विभिन्न लिंगों तथा वचनों की सिद्धि होती है।[3] (२) व्यक्ति के अनुसार पुल्लिंग या स्त्रीलिंग होगा। जितने व्यक्ति होंगे, उसी के अनुसार एकवचन, द्विवचन या बहुवचन होंगे। (३) आदेशों में भी द्रव्य में ही कार्य किया जाता है। 'गाय लाओ' कहने पर जाति नहीं, अपितु गाय व्यक्ति 'लाई' जाती है। (३) एक जाति एक समय में अनेक स्थानों पर नहीं रह सकती यथा एक ही देवदत्त एक समय में आगरा व मथुरा दोनों स्थानों पर नहीं हो सकता। (४) यदि शब्द का अर्थ जाति माना जाएगा तो एक गाय के मरने से सारी गाय मर जानी चाहिए तथा एक गाय के उत्पन्न होने से सारी गाय उत्पन्न हो जानी चाहिए (५) प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्नता होती है। जाति में विभिन्नता एवं अभिन्नता दोनों गुण साथ नहीं रह सकते। व्यक्तियों की विभिन्नता को मान कर विग्रह किया जाता है कि "गाश्च गौश्च" (गाएँ तथा गाय) (६) नानार्थक

---

१. वाक्यपदीय १।४४ हेलाराज की टीका
वाचकः उपादानः स्वरूपवानव्युत्पत्तिपक्षे। व्युत्पत्तिपक्षे त्वर्थविहितं समाश्रितम् निमित्तं शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि प्रयोजकम्। उपादानो द्योतक इत्येके। सोऽयं इति व्यपदेशेन सम्बन्धोपयोगस्य शक्यत्वात्।

२. द्विवेदी, कपिलदेव: "अर्थविज्ञान तथा व्याकरण दर्शन" पृष्ठ २१०
न तदस्ति न तन्नास्ति न तदेकं न तत्पृथक् न संसृष्टम् विभक्तं वा विकृतं न च अन्यथा।

३. महाभाष्य "एवम् च कृत्वा लिंगवचनानि सिद्धानि भवन्ति।

शब्दों में द्रव्य की पृथक्ता को मान कर एक शेष हो जाता है यथा अक्षाः, पादाः, माशाः शब्दों में नाना शब्द मान कर एक शेष करके बहुवचन हो जाता है ।[1]

पतञ्जलि ने यद्यपि व्याडि द्वारा जातिवाद अर्थात् आकृतिवाद पर उठाए गए प्रश्नों का समाधान किया है परन्तु उन्होंने व्याडि के व्यक्तिवाद या द्रव्यवाद को नकारा नहीं है । उन्होंने जाति तथा व्यक्ति दोनों को शब्दार्थ माना है ।[2] पतञ्जलि का यह कथन कि द्रव्य नित्य है तथा आकृति अनित्य है आकृति बदलती रहती है, द्रव्य वहीं रहता है, "संग्रह" ग्रन्थ में व्याडि द्वारा कहे गए मत का अनुवाद मात्र है ।[3] पतञ्जलि ने आकृतिवाद पर व्याडि द्वारा लगाए गए आक्षेपों का समाधान उक्त रूप में किया है ।

पतञ्जलि के अनुसार यदि कहें कि गुण अनित्य हैं तथा लिङ्ग व वचन तदनुसार हो जाएँगे तो उत्तर अपूर्ण है क्योंकि वचन को अनित्य मानने पर जाति की एकता नष्ट हो जाएगी । अतः दूसरा उत्तर देते हैं कि गुणों की विवक्षा के अनित्य होने पर लिङ्ग तथा वचन हो जाएंगे । जब शब्द में स्त्रीत्व की विवज्ञा होगी, स्त्रीलिंग होगा, पुंस्त्व की विवक्षा में पुल्लिग तथा दोनों की अविवक्षा में नपुंसकलिंग । वचन के विषय में भी जैसे व्यक्तिवादी के मत में वचन वाचनिक है, उसी प्रकार एकत्व में एकवचन, द्वित्व में द्विवचन तथा बहुत्व में बहुवचन होगा तथा जिस प्रकार गुणवाची शब्दों के आश्रय के अनुसार लिंग तथा वचन होते हैं उसी प्रकार यहाँ पर भी द्रव्य में जो आकृति है उसके जो लिंग तथा वचन हैं, वही जाति के भी लिंग तथा वचन हो जाते हैं ।[4]

---

१. द्विवेदी, कपिलदेवः "अर्थविज्ञान तथा व्याकरण दर्शन" पृष्ठ २८८ ।

२. महाभाष्य १।२।६४ न ह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यम् न पदार्थो, द्रव्य-पदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः । उभयोरुभयम् पदार्थः । कस्यचित्तु किञ्चित् प्रधानभूतं किञ्चित् गुणभूतम् आकृति पदार्थिकस्य आकृति-प्रधानभूता, द्रव्यम् गुणभूतम्, द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृति-र्गुणभूताः ।

३. द्विवेदी, कपिलदेव, "अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन" पृष्ठ २८८ पर उद्घृत वा० पदीय काण्ड ३ हेलाराज की टीका ।

४. महाभाष्य १।२।६४ "लिंगवचनसिद्धेर्गुणविवक्षाऽनित्यत्वात् विवक्षातः । गुणवचनवत् वा ।"

दूसरा आक्षेप कि जाति में 'लाना' सम्भव नहीं है, का उत्तर है कि जाति का 'लाना' क्रिया सम्भव न होने पर जाति के साहचर्य वाले व्यक्ति का 'लाना' आदि होगा।[१]

तीसरा आक्षेप कि एक जाति नाना स्थलों पर एक ही समय में नहीं रह सकती यथा देवदत्त। इसका उत्तर इन्द्र के उदाहरण द्वारा दिया जा सकता है। इन्द्र के तुल्य जाति भी एक समय में अनेक स्थानों पर रह सकती है।

चतुर्थ आक्षेप कि व्यक्ति के नाश तथा जन्म से जाति का नाश या जन्म होना चाहिए, का उत्तर है कि द्रव्य के नाश या उत्पत्ति से जाति का नाश आदि नहीं होता क्योंकि जाति की आत्मा तथा व्यक्ति की आत्मा भिन्न है। यथा वृक्ष के ऊपर लगी लता आदि वृक्ष के कट जाने पर भी नष्ट नहीं होती उसी प्रकार आत्मा की भिन्नता के कारण द्रव्य के नष्ट होने पर भी जाति नष्ट नहीं होती।[२]

पञ्चम आक्षेप कि द्रव्यों में विरूपता तथा भिन्नता रहती है तथा वैसा ही विग्रह होता है, का उत्तर है कि आकृति के मानने पर भी द्रव्य भेद से विरूपता तथा विग्रह होते हैं।[3]

षष्ठ आक्षेप कि नानार्थकों में एक शेष करना पड़ेगा का उत्तर यह है कि नानार्थकों में क्रिया की समानता या संख्या की समानता के कारण जाति का बोध होगा[४]।

हेलाराज ने व्याडि के शब्दार्थ स्वरूप को व्यावहारिक व पारमार्थिक, सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों दृष्टियों से श्लाघनीय माना है। इसमें व्यावहारिक पक्ष को लेकर शब्द तथा अर्थ विषयक लौकिक व्यवहार चलता है। व्यावहारिक अवस्था में स्थूल रूप से व्यक्ति में ही शक्ति का ग्रहण होता है। भर्तृहरि ने व्याडि के द्रव्य-विषयक व्यावहारिक दृष्टिकोण का द्रव्यसमुद्देश[५]

---

१. महाभाष्य १।२।६४ "अधिकरणगतिसाहचर्यात् ।"

२. वही १।२।६४ "अविनाशोऽनैकात्म्यात् । अनेक आत्मा आकृतेर्द्रव्यस्य च,"

३. वही, १।२३।४ 'वैरूप्यविग्रहौ द्रव्यभेदात् ।"

४. वही १।२।६४
व्यर्थेषु च सामान्यात् सिद्धम् ।

५. भर्तृहरि, वाक्यपदीय काण्ड ३, पृष्ठ १३९-१४४ ।

में वर्णन किया है तथा द्रव्य का लक्षण किया है—"जिसको लक्ष्य में रखकर 'यह है' इस प्रकार वस्तुसंकेतक सर्वनाम का प्रयोग होता है उस अर्थ को द्रव्य कहते है"। वह विशेषण रूप में विवक्षित रहता है।

भर्तृहरि ने यद्यपि जातिसमुद्देश में आचार्य वाजप्यायन के दर्शन के अनुसार जाति की पारमार्थिक व्याख्या की है तथा जाति रूप पदार्थ को विशेषण रूप कहा है परन्तु उसके इस व्याख्यान में व्याडि के द्रव्य रूप पदार्थ को जाति रूप पदार्थ का विशेष्य रूप कहा गया है। भर्तृहरि ने व्याडि के द्रव्य रूप पदार्थ की **पारमार्थिक व्याख्या** करते हुए कहा है कि आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर तथा तत्त्व द्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं[१]। वह द्रव्य नित्य है। हेलाराज ने व्याडि के द्रव्यवाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि अद्वैतवादी आत्मा शब्द के द्वारा उस द्रव्य का ही बोध कराते हैं। आत्मा ही असत्य उपाधि मे पृथक् होकर तेजोमय प्रकाशमान् द्रव्य है। वही शब्दों का अर्थ है।

वाक्यार्थ का स्वरूप:—व्याडि के मतानुसार कोई भी पद किसी अर्थ में नियमित नहीं है अर्थात् पदों का कोई निश्चित अर्थ नहीं है। केवल वाक्य ही सार्थक है तथा उसकी सार्थकता से पद की सार्थकता है[२]। व्याडि के कथनानुसार वाक्य का तात्पर्य संसर्ग या शब्दार्थ का परस्पर संयोग न होकर, द्रव्यों का परस्पर भेद है[3] जो बौद्धों के अपोहवाद के समान प्रतीत होता है। बौद्धों का अपोहवादसिद्धान्त-शब्द तथा अर्थ में सीधा सम्बन्ध स्थापित न करके, नकारात्मक (अन्यों के प्रतिषेध के) सम्बन्ध को स्वीकार करता है। उनके मत में नील कमल कहने पर नील शब्द से उन सब वर्णों का प्रतिषेध हो जाता है, जो नील नहीं हैं तथा कमल शब्द से उन सब पदार्थों का

---

१. वाक्यपदीय, काण्ड ३ पृष्ठ ८५।

२. वाक्यपदीय १।२६ की टीका
नहि किञ्चित् पदन्नाम रूपेण नियतं क्वचित् पदानामर्थरूपं च वाक्यार्थादेव जायते।

३. Kunjunni Raja, K. "Indian Theories of Meaning "Page 85
The meaning of sentence is not Samsarg or the mutual association of word-meaning but the mutual exclusion of these.
व्याडिमते भेदो वाक्यार्थः पदवाक्यानां द्रव्यानाम् द्रव्यान्तर निवृत्तिः तात्पर्येणाभिधेयत्वात्।

प्रतिषेध हो जाता है जो कमल नहीं है। इस प्रकार से नील-इतर तथा कमल इतर सबका प्रतिषेध हो जाता है।

स्फोटवाद:— स्फोट शब्द स्फुट् धातु से निष्पन्न है स्फुटित प्रकाशतेऽर्थोऽस्मादिति स्फोटः, अर्थात् इससे अर्थ स्फुटित या प्रकाशित होता है, इसलिए स्फोट कहा जाता है[1]। व्याडि के मतानुसार स्फोटवाद को मानने के लिए कुछ बातों को मानना आवश्यक है जिनका स्वरूप इस प्रकार है।

शब्द तथा अर्थ में कोई भेद नहीं है, व्यवहार में इनको पृथक् कर लिया जाता है। शब्द तथा अर्थ में मौलिक तत्त्व एक ही है, वह एक है, तथा नित्य है। शब्दों में कोई विभाग नहीं है। उसकी विभाग युक्त अर्थात् क्रमयुक्त वर्णों से, जो कि वैखरी ध्वनि रूप है, अभिव्यक्ति होती है। वह अभिव्यक्त ध्वनि रूप वर्णों से अर्थ का वाचक होता है अर्थात् शब्द का उच्चारण होने पर वह बुद्धिस्थ शब्द के साथ तादात्म्य को प्राप्त हो जाता है[2]।

स्फोट की अभिव्यक्ति प्राकृत ध्वनि से होती है। वैकृत ध्वनि तो वृत्ति भेद का निमित्त है अर्थात् विभिन्न वक्ताओं की द्रुत, मध्यम तथा विलम्बित आदि अनेक उच्चारणों वाली ध्वनियों की परिचायक है[3]। यद्यपि ध्वनियों के क्रम से जन्म लेने के कारण स्फोट सक्रम प्रतीत होता है तथापि यह सक्रम नहीं है। इसी प्रकार वर्ण, पद, वर्णावयव, पदावयव, जाति, व्यक्ति, सखण्ड आदि प्रतीतियाँ भ्रम हैं[4]। वस्तुतः एक तथा सत्य वाक्य ही स्फोट है।

---

१. तिवारी, भोलानाथः "भारतीय भाषा विज्ञान की भूमिका"

२. वाक्य पदीय १।४५ की टीका :—
अविभक्तो विभक्तेभ्यः जायतेऽर्थस्य वाचकः
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा संभेदमुपगच्छति।

३. वही १।७७ सूर्यनारायण की टीका :—
स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः, प्राकृतो ध्वनिरिष्यते
वृत्तिभेदे निमित्तत्वम् वैकृतः प्रतिपद्यते।

४. वही १।८५ में उद्धृत 'संग्रह' का श्लोक असतश्चान्तकाले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपायः एव सः।

व्याडि के अनुसार ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के बिना व्यवहार में नहीं आता है।
जब तक वाणी में क्रम नहीं होगा तब तक उससे किसी अर्थ का बोध नहीं कराया जाता है।[1] जिस प्रकार एक दो संख्यायें दस, सौ संख्याओं से भिन्न होते हुए भी उनके ज्ञान में सहायक हैं।[2] ज्ञान का आधार ज्ञेय होने के कारण पदार्थ भी बिना आधार के नहीं हो सकता। अतः ध्वनि का आधार स्फोट को मानना पड़ता है, पदार्थ का आधार वाक्यार्थ को तथा भेद का आधार वाक्य को। वह शब्द ब्रह्म है। परब्रह्म है, अखण्ड वाक्य है।

लिङ्ग विधान——व्याडि ने लिङ्गविधान संग्रह के अन्तर्गत प्रसंग रूप में प्रस्तुत किया है। अनुमान है कि इसी लिङ्ग विचार को आधार बना कर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में लिङ्गसमुद्देश की रचना की हो। लिङ्ग निर्धारण के लिए व्याडि ने स्तन, केश, श्मश्रु आदि बाह्य लक्षणों पर बल नहीं दिया है। उनके अनुसार सत्त्व, रजस्, तमस्, प्रकृति के निर्माण में भाग लेने वाले तीन गुण हैं। इन तीनों की विविध प्रकृतियाँ हैं, जो अपनी विकृतियों द्वारा विविध लक्षणों को जन्म देती हैं।[3] भावनात्मक दृष्टि से इन तीनों का विविध रूप से प्रकाशन होता है। सांख्यमत के अनुसार सत्त्व, रजस् तथा तमस् अपनी गुणित अवस्थाओं में उपचय, अपचय तथा मध्यस्थता को जन्म देते हैं। ये तीनों अवस्थायें ही क्रमशः पुंस्त्व, स्त्रीत्व तथा नपुंसकत्व की प्रतिनिधि होती हैं। हेलाराज उपचय अपचय तथा मध्यस्थता आदि तीनों स्थितियों की व्याख्या संस्त्यान प्रसव तथा स्थिति नामक अवस्थाओं से करते हुए संग्रहकार व्याडि के मत को प्रस्तुत करते हैं।[4] संग्रहकार व्याडि का स्पष्टीकरण संस्त्यान को अपचय का, प्रसव को उपचय का तथा मध्य-

---

१. वाक्यपदीय १।८६ की टीका।

ज्ञेयेन न विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते।
नालब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥

२. वाक्य० १।८७ में संग्रह का वचन।
यथाद्यसंख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये।
संख्यान्तराणाम् भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः॥

३. वर्मा, सत्यकाम "व्याकरण की दार्शनिक भूमिका" पृष्ठ ४४४-४४६

४. संस्त्यानं संहननम् तमोनिवृत्तिरशक्तिरूपरतिः प्रवृत्तिप्रतिबन्धतिरोभावः स्त्रीत्वम् प्रसवो विष्वग्भावो वृद्धिशक्तिलाभोऽभ्युद्रेकः प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुंस्त्वम् आविवक्षातः साम्यस्थितिरौत्सुक्यनिवृत्तिपदार्थत्वम् अङ्गाङ्गिभावनिवृत्तिः कैवल्यमिति नपुंसकत्वम् इति।

स्थता की स्थिति का प्रतिनिधि बताता है। अर्थात् उनकी दृष्टि में अपचय-अथवा संस्त्यान का स्त्रीत्व और इसीलिए रजोगुण से सम्बन्ध है। इसी प्रकार प्रसव अथवा उपचय का पुंस्त्व, तथा इसलिए सत्त्वगुण से सम्बन्ध है तथा मध्यस्थता अथवा स्थिति का नपुंसकत्व से तथा इसलिए तमोगुण से सम्बन्ध बैठता है।

लिङ्ग निर्धारण के लिए उक्त मत को आधार मानने पर प्रश्न उठता है। किस प्रकार एक ही द्रव्य के लिए विविध लिङ्गों वाले एक ही या विविध शब्द प्रस्तुत होते हैं यथा तटः तटी, तटम्। व्याडि का इस सन्दर्भ में कथन है कि संस्त्यान, प्रसव तथा स्थिति की अवस्थायें हर द्रव्य या वस्तु में रह सकती हैं; क्योंकि हर वस्तु के निर्माण में सत्त्व, रजस्, तमस् का हाथ रहता है। परन्तु वक्ता इनमें से किस गुण-अवस्था को प्रधानता की दृष्टि से देखता है तथा तदनुसार उसे व्यवहार में प्रयोग करता है यह बात ही शब्द के विशिष्ट लिङ्ग में प्रयोग होने का आधार प्रस्तुत करती है। संस्त्यान आदि लक्षणों का अस्तित्व भौतिक दृष्टि से उतना अनिवार्य नहीं है जितना भावनात्मक दृष्टि से। इसी आधार पर पृथ्वी, सविता, द्यौः आदि निर्जीव पदार्थों में भी लिङ्ग निश्चय किया जाता है।

अतः स्पष्ट है कि संग्रह के उपलभ्यमान न रहने पर भी भाषा को दी गई देन अपना अक्षुण्ण महत्व रखती है। यद्यपि व्याडि कृत भाषा के बाह्य एवं आन्तरिक कलेवर के चिन्तन की आलोचना समय-समय पर पतञ्जलि, कात्यायन, भर्तृहरि एवं नागेश आदि वैयाकरणों द्वारा की गई है तथापि उनका भाषा-चिन्तन अद्यापि संस्कृत महाभाष्य साहित्य में अनुकरणीय है। पतञ्जलि कृत महाभाष्य तो संग्रह का प्रतिकुञ्चक (रहस्योद्घाटक) ही कहा गया है। व्याडि के द्रव्यपक्ष को आधृत कर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में द्रव्यसमुद्देश की रचना की तथा पतञ्जलि ने शब्दार्थ-स्वरूप को जाति तथा व्यक्ति का सम्मिश्रण मान कर परिपक्व रूप प्रदान किया। कात्यायन पर भी उनका प्रभाव पड़ा है तभी वे 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' को मानते हुए व्याडि के वचन को प्रमाण मानते हैं।[1] उनके भाषा-चिन्तन का ही परिणाम है कि जहाँ व्याडि विस्तार तथा जटिलता का अवगाहन करने वाले होकर भी परवर्ती चिन्तन के लिए दिशा प्रदान करते रहे, वहाँ पाणिनि संक्षिप्त हो कर भी दुरूह ही रहे।

---

१. वाक्यपदीय १।२६ में संग्रह का उद्धरण—
सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्॥

यास्क का भाषा-परक चिन्तन

डॉ० पुष्पेन्द्र कुमार

विश्व की प्राचीनतम लिखित या मौखिक साहित्यिक कृति का प्रणयन भारत में हुआ था जिसे ऋग्वेद के नाम से अभिहित किया जाता है। साहित्य के प्रणयन के साथ-साथ भाषापरक चिन्तन भी प्रारम्भ हो जाता है जो सहज ही वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रंथों, आरण्यकों आदि में अपने मूलतम रूप में उपलब्ध होता है। इस भाषापरक, चिन्तन का विकसित रूप हमें यास्क की विश्वप्रसिद्ध कृति निरुक्त में उपलब्ध होता है। यास्क पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं तथा उन्होंने संस्कृत के महनीय पाणिनीय व्याकरण की पूर्वपीठिका तैयार कर दी थी। यास्क ने भाषा के विविध पहलुओं पर विचार व्यक्त किए हैं। कहीं पर अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का समर्थन किया है तथा कहीं उनका खण्डन करके सिद्धान्तपक्ष की स्थापना की है। वस्तुतः 'नामानि आख्यातजानि' कहकर यास्क ने आज से सहस्राब्दियों पूर्व भाषा-विज्ञान का पीठिका तैयार कर दी थी। यास्क के विचारों को मनन करते हुए यह प्रतीत नहीं होता कि वे अविकसित काल के हैं। यास्क तक आते-आते एक विशाल वाङ्मय की रचना हो चुकी थी और जिसको आधार मानकर यास्क ने भाषा चिन्तन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण तथा महनीय योगदान दिया है। यास्क का नाम बहुत प्राचीन काल से श्रद्धास्पद रहा है तथा आज भी वे बड़े ही श्रद्धास्पद हैं।

भाषा की सम्प्रेषणता—यास्क ने मानवीय भाषा को सम्प्रेषण का सब से अच्छा एवं लघुतम साधन स्वीकार किया है। इसके बिना संसार का कार्य कलाप नहीं चल सकता है। (अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके) लोक व्यवहार शब्द के माध्यम से सम्भव हो सकता है।

इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र कहा है कि यत्काम ऋषिः आर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते। अर्थात् मानव अपने हृदय के भावों को सम्प्रेषित करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। यही भाषा की सार्थकता है। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह।

शब्द की व्यापकता—१. व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य। अर्थात् शब्द अनित्य नहीं हो सकता क्योंकि वह सर्वव्यापक है। सम्भवतः भर्तृहरि ने इसी व्यापक तत्त्व को 'शब्दब्रह्म' के रूप में संस्मृत किया है। शब्दों में या भाषा में परिवर्तन शब्द के कारण नहीं अपितु मानवीय बुद्धि की सीमा या दोष के कारण होता है। पुरुषविद्या अनित्यत्वात्। यास्क देवों की भाषा और मानव की भाषा में अन्तर नहीं करते—अर्थात् भाषा भाषा है वह किसी की बपौती नहीं। मनुष्यवद् देवताभिधानम्। वह भावों को प्रवाहित करने वाली है।

अर्थ के महत्त्व—अपने पूरे निरुक्त शास्त्र में यास्क ने शब्द के महत्त्व को अक्षुण्ण रखते हुए भी अर्थ के महत्त्व को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। अर्थनित्यः परीक्षेत। यास्क यह कहने में जरा सा भी संकोच नहीं करते कि अर्थ के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया तो आचार्य निन्दनीय हो जाता है। योऽनन्वितेऽर्थे सञ्चस्कार स तेन गर्ह्यः। 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्', कहकर यास्क ने 'शब्द और अर्थ' के सहज रूप को स्वीकार किया है। सम्भवतः कालिदास ने 'वागर्थाविव' कहकर यास्क को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। निर्वचन के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए यास्क ने कहा है—अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः'। इस प्रकार 'अर्थ' पर भाषा-वैज्ञानिक की दृष्टि को केन्द्रित करके रखा है। वैयाकरण की भांति केवल सूत्र तथा उदाहरण तक सीमित नहीं रहे हैं। व्याकरण की प्रक्रिया को महत्व देते हुए भी सावधान करते हैं—'प्रतीतार्थानि स्युः'। अर्थात् अर्थ को आँखों से ओझल नहीं होना चाहिए। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।

अर्थभेद—उच्चावचैरभिप्रायैर्मन्त्रदृष्टयो भवन्ति। अर्थात्—भाषा के प्रयोग में अर्थ अनेक प्रकार के हो सकते हैं। स्तुतिपरक अर्थ भी होते हैं। शपथ, अभिशाप, निन्दा, प्रशंसा, परिदेवना, जिज्ञासा आदि शब्दों का प्रयोग कर यास्क ने हमारे भाषा के प्रयोग में भाववैविध्य या अर्थ वैचित्र्य का चिन्तन किया है। इसी प्रकार शब्द को व्यञ्जक मानते हुए कहते हैं 'व्यञ्जनमात्रं तु तत्'। नामकरण करते हुए, कर्मनाम होते हैं—यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्। भाववाचक संज्ञायें होती हैं—यावद्भिः भावैः सम्प्रयुज्येत। और

निरुक्त में भावप्रधानमाख्यातम् कहा है। जिसका अभिप्राय है कि जगत् के सम्पूर्ण क्रिया कलाप भावों से प्रेरित होते हैं।

यास्क अपने विवेचन को यहीं तक सीमित नहीं रखते अपितु अविस्पष्टार्थ, प्रतिषिद्धार्थ, अनुपपन्नार्थ आदि शब्दों का प्रयोग कर यह दिखलाते हैं कि अर्थ के क्षेत्र में क्या क्या विसंगतियाँ हो सकती हैं।

चत्वारि पदजातानि—यास्क ने पदों के चार भेद स्वीकार किए हैं—नाम, आख्यात उपसर्ग, निपात जबकि परवर्ती आचार्य दो भेद स्वीकार करते हैं। यास्क उपसर्गों को स्वतन्त्र रूप से अर्थवान् मानते हुये उनके महत्व को भाषा के संदर्भ में मूल्याङ्कन मानते हैं। वैदिक भाषा के सन्दर्भ में यह स्वाभाविक भी है। इसी प्रकार उन्होंने निपातों को अनेकार्थक रूप में स्वतन्त्र इकाई स्वीकार किया है। चार भेद स्वीकार करते हुये भी यास्क ने दो अर्थात् नाम और आख्यात को विशेष महत्व दिया है। 'नामानि आख्यातजानि' नाम आख्यात से उत्पन्न होते हैं कहकर उन्होंने आख्यात का महत्व ही नहीं अपितु सारे संसार को एक नयी दृष्टि प्रदान की कि सभी शब्द व्युत्पन्न होते हैं—रूढ नहीं। आज के भाषाविज्ञान का भी यहीं मूल सिद्धान्त है। नाम की व्याख्या बड़ी अद्भुत है—'सत्त्वप्रधानानि नामानि' अर्थात् नाम किसी न किसी दृश्य वस्तु को दर्शाता है या व्यञ्जित करता है। उसका कोई न कोई रूप होता है तभी उसका नामकरण हो सकता है। मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्वनामभिः। यास्क ने यहीं बहुवचन का प्रयोग कर—वचनों, विभक्तियों एवं लिंगों के बारे में अपने ज्ञान को प्रकट कर दिया है। 'सर्वाभिर्नामविभक्तिभिः।' आदि—भाषा के सन्दर्भ में क्रिया की प्रधानता स्वीकार की है। तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः।

ध्वनि विज्ञानः—अक्षर-और वर्ण शब्दों का यास्क प्रयोग करते हैं-स्वर एवं व्यञ्जन से ऋषि यास्क अच्छी प्रकार से परिचित हैं। ध्वनि में होने वाले परिवर्तनों से निर्वचन के प्रकार बतलाते हुये वे विभिन्न प्रकार से ध्वनि परिवर्तन सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। ये सभी सिद्धान्त यास्ककृत हैं अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों के हैं ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है।

१. धात्वादी एव शिष्येते—आदिशेष-प्रत्तम् अवत्तम् में
२. आदिलोप—स्तः, सन्ति आदि में
३. अन्तलोप—गत्वा, गतम् आदि में
४. उपधालोप—राजा, दण्डी,

५. वर्ण का आगम, आस्पद, द्वार:,

६. वर्णलोप—तत्त्वा, यामीति

ऐसे अनेक प्रकारों का वर्णन करते हुए वे देशान्तरजन्य या भाषान्तर जन्य ध्वनि में या ध्वनि परिवर्तनों का संकेत देते हैं। यास्क द्वारा दिये गये सभी सिद्धान्त आज तक मान्य हैं यह नहीं कहा जा सकता परन्तु उन्होंने पूरी निष्ठा एवं सतर्कता के साथ इन सिद्धान्तों का परिगणन किया है। उन्होंने बतलाया है कि:—

१. अल्पप्राण ध्वनियां महाप्राण हो जाती हैं—मद-मधु:

२. महाप्राणध्वनियां कालान्तर मे परिणत हो गई वैदिक भाषा के महाप्राण लौकिक में 'ह' मे परिर्वत्तित।

बाध्-बाहु। अभात्-अहरत् या-ह ध्वनि महाप्राण में परिर्वतित अजहा-जघान। नह्-नाथि

३. ष् और श् में सम्बन्ध—कृष्-कशा, विश्—विष्णु कृष्—कोश

४. र-ल—अभेद—रम्भ्-लम्भ उपर-उपल

निरुक्त एवं व्याकरण—यास्क ने व्याकरण की विभिन्न पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करके तत्कालीन या पूर्ववर्ती व्याकरण शास्त्र पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। लोप, उपधा, प्रतिषेध, अन्वादेश, ह्रस्व, गुण, स्वर, संस्कार, वृत्ति आदि का प्रयोग किया है। समास का वर्णन करते हुए-एकपर्व एवं अनेकपर्व पदों का प्रयोग किया है। अर्थात् समास कम से कम दो पदों का होता है तथा अनेक पदों का भी होता है। यास्क ने वैयाकरणों के द्वारा प्रयुक्त प्रत्ययों का वर्णन किया है—अस, ईर, थ, ध, कु आदि। अभ्यास, सर्वनाम, तद्धित, आदि संज्ञाए भी बहुलता से उल्लिखित हैं। शब्द दो प्रकार के बतलाये हैं व्यय एवं अदृष्टव्यय-अर्थात् सुबन्त एवं अव्यय। सात विभक्तियां, तीनों वचन एवं तीनों लिंगों का उल्लेख मिलता है। उपसर्गों पर एक अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया गया है—उपसर्ग स्वतन्त्र हैं अथवा नहीं। धातु के आख्यात रूप को प्रकृति एवं नाम-रूप को विकृति (२।२) कहा गया है। धात्वर्थ के लिए कर्म शब्द का प्रयोग एवं अन्य अर्थों के लिये अर्थ का भी प्रयोग मिलता है। निरुक्त (५।२३) में एक धातु को अकर्मक कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि सकर्मक-अकर्मक दो भेद होते थे। आत्मनेपदी-एवं परस्मैपदी क्रियाओं का प्रयोग करके दोनों की सत्ता स्वीकार की है। ऐसे ही प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष आदि का प्रयोग क्रिया के सन्दर्भ में उपलब्ध है। गुण-वृद्धि निषेध के लिये निवृत्ति

स्थान शब्द का प्रयोग है। अभ्यास शब्द बारम्बार प्रयुक्त हुआ है। संस्कार, कार्मनामिक, न्यायवान् आदि शब्दों का प्रयोग करके व्याकरण सम्मत शब्दों का महत्व भाषा के सन्दर्भ में संस्थापित करते हुये भाषा वैज्ञानिक को छूट दी गई है। अर्थनित्यः परीक्षेत् उस प्रकार यास्क कृत निरुक्त शास्त्र की भाषा शास्त्र के अध्ययन में जो महत्वपूर्ण भूमिका रही है एवं जो उसकी उपयोगिता है वह सर्वविदित है। यास्क ने स्वयं उसकी उपयोगिता बतलाते हुए लिखा हैं कि 'व्याकरणस्य कात्स्र्न्यम्' अर्थात् व्याकरण शास्त्र निरुक्त के अध्ययन के बिना अपूर्ण ही रहेगा। अपने से पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के सिद्धान्तों को उन्होंने स्वीकार भी किया है एवं स्थान-स्थान पर अस्वीकार भी। उन्होंने निरुक्त का महत्वपूर्ण प्रयोजन अर्थज्ञान (मन्त्रार्थज्ञान) बतलाया है। वस्तुतः निरुक्त का क्षेत्र ही अर्थनिर्वचन है जबकि व्याकरण प्रकृति-प्रत्यय के योग एवं संस्कार पर अधिक बल देता है। यास्क कहते हैं कि संस्कार भी अर्थ जाने बिना सम्भव नहीं हो सकता। निरुक्त शास्त्र व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न दोनों प्रकार के शब्दों का विवेचन प्रस्तुत करता है। बहुत जगह पर एक शब्द के अनेक निर्वचन प्रस्तुत किये गये हैं जो लोकमानस की विभिन्नताओं के कारण अर्थभेद करते हैं। इस प्रकार निरुक्त लोकमानस के अध्ययन का प्रयत्न करता है। तीसरा प्रयोजन पदविभाजन बतलाया है अर्थात् पद का निर्णय अर्थ के आधार पर होता है और अर्थज्ञान- तथा पदविभाग ज्ञान में गहरा सम्बन्ध है।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि यास्क 'बहुविद्यः भूयोविद्यः प्रशस्यः भवति' पर अधिक बल देते हैं—केवल शब्द ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। निरुक्त भाषा शास्त्र के रूपविज्ञान, अर्थविज्ञान, वाक्यविज्ञान और निर्वचनविज्ञान पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। लोक में प्रचलित शब्दों का अर्थ विकास की दृष्टि से अध्ययन करना—नैरुक्तों का मौलिक योगदान है। इसका महत्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि भाषा शास्त्र पर लिखे गये स्वतन्त्र ग्रन्थ में इसका नाम सर्वप्रथम ही नहीं अपितु श्रेष्ठ कृतियों में आता है। यास्क वस्तुतः स्वयं भूयोविद्यः रहे होंगे एवं उनकी लेखनी से हमें इतने प्राचीन काल के भाषा-सिद्धान्त देखने को मिलते हैं।

भर्तृहरि के अनुसार भाषा में बुद्धितत्त्व

डा० सत्यपाल नारंग

वैय्याकरणों का मुख्य उद्देश्य था अपोद्धार अथवा भाषा का विश्लेषण करना। इस विश्लेषण के लिए अर्थ के साथ २ पद-ज्ञान की आवश्यकता अधिक महत्त्वपूर्ण थी यद्यपि पद का प्रयोजन अर्थ के निमित्त ही था।[1] बाह्य वस्तु के ज्ञान के लिए शब्दचयन की अथवा ध्वनि समूह के प्रतीकों के चयन की आवश्यकता होती है जो द्रव्य, शब्द एवं उच्चारित होने पर उसके अर्थ में सामञ्जस्य उत्पन्न कर सकें। ये ध्वनियां उच्चारित होने पर श्रोता के श्रवण में भी उसी अर्थ की प्रतीति करा सकें जो वक्ता के मस्तिष्क अथवा अभिप्राय में हैं। इसी अन्विति के लिए भर्तृहरि को 'बुद्धितत्त्व' की कल्पना करनी पड़ी जो बाह्यपदार्थ से बुद्धि पदार्थ में परिणत होता है तथा तदनुरूप ध्वनि-समूह को जन्म देता है।[2] इसीलिए ही अन्तर्निविष्ट अर्थ की कल्पना करनी पड़ी। यहाँ बुद्धि शब्द किसी दर्शन-विशेष के सन्दर्भ में नहीं परन्तु सामान्य बुद्धि (Mind) का ही वाचक है। इस अन्तर्निविष्ट बुद्धि-तत्त्व का प्रामाण्य इसी बात में है कि जब भी बाह्य-पदार्थ नष्ट हो जाता है अथवा विस्मृत हो जाता है, इसके स्मरण के लिए हम इसी तत्त्व का आश्रय लेते हैं तथा पुनः उसी द्रव्य को ध्वनिसमूह के माध्यम से अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं। वैदिक स्मृति परम्परा में जहां पूरा वाङ्मय हृदयङ्गम होना चाहिए, यह तत्त्व और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है।[3]

बाह्य पदार्थ का विवक्षु जिस अभिप्राय से ध्वनि-समूह का उच्चारण करता है, श्रोताओं के अभिप्राय भिन्न होने से वह ध्वनि-समूह भी भिन्न हो

---

१. वाक्यपदीय ३. भा. २ पृ. २.१.१६.
अर्थापोद्धार एव हि पदापोद्धारस्य निमित्तम्। निमित्ते हि तस्मिन् वर्णापोद्धारस्यापि प्रसङ्गः। तेषामपि व्युत्पाद्यता स्यात्॥

२. वही २. ३१ पर वृत्ति

३. वही० १. वृत्ति. पृ० १६०

जाता है।[1] इसका भी मुख्य कारण है बुद्धि-भेद। ऐसी स्थिति में कभी भी अर्थ की वही प्रतीति सम्भव नहीं जो वक्ता के मस्तिष्क में रहती है। अनुमान का खण्डन करते हुए भर्तृहरि अवस्था, देश तथा काल से शब्द शक्तियों को भिन्न मानते हैं तथा विशिष्ट द्रव्य के सन्दर्भ में इन शक्तियों का प्रतिबन्ध भी मानते हैं[2] जैसे अभ्रक के लिए अग्नि का प्रतिबन्ध इत्यादि। अतः बुद्धि-तत्त्व के बिना केवल अनुमान से ही इनके अर्थ का ग्रहण यदि असम्भव नहीं, भ्रामक अवश्य हो सकता है। इसी प्रकार विशिष्ट-ज्ञान की प्रतिपत्ति के लिए विशिष्ट बुद्धि की आवश्यकता होती है। साधारण बुद्धि से विशिष्ट कार्य निष्पन्न नहीं हो सकता। उदाहरणतः मणि की परीक्षा के लिए अभ्यास जनित संस्कार ही परीक्षण कर सकते हैं। सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति को उसकी कान्ति की पहचान नहीं है।[3]

भर्तृहरि ने उच्च धरातल पर एक अन्य ज्ञान की भी कल्पना की है और वह ऋषियों का ज्ञान जिसमें भाषा-तत्त्व नहीं होता। अलौकिक ज्ञान की भी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसके लिए शब्द नहीं होते और लोक व्यवहार केवल शाब्दिक भाषा के माध्यम से ही सम्भव हैं।[4]

लोक-व्यवहार के लिए अखण्ड शब्द (ब्रह्म-तत्त्व) से भर्तृहरि[5] ने तीन अलग-२ तत्त्वों की कल्पना की जो प्रस्तुत विषय का मुख्य प्रतिपाद्य है और वे तत्त्व हैं, भोक्तृ, भोक्तव्य तथा भोग। इसे ही भाषा के सन्दर्भ में वक्ता,

१. वही २. १३५
वक्त्रान्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते॥

२. वही १ ३२-३३

३. वही० ३. १. ५०
ज्ञानमस्माद्विशिष्टानां तासु सर्वेन्द्रियं विदुः।
अभ्यासान्मणिरूप्यादिविशेषेष्विव जायते॥

४. वही २ १३९.
ऋषीणां दर्शनं यच्च तत्त्वे किंचिदवस्थितम्।
न तेन व्यवहारोऽस्ति न तच्छब्दनिबन्धनम्॥ तथा २ २९७
यच्चोपपातजं ज्ञानं यच्च ज्ञानमलौकिकम्।
न ताभ्यां व्यवहारोऽस्ति शब्दा लोकनिबन्धनाः॥

५. वही १.४

बाह्य पदार्थ तथा भाषा के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। अन्यत्र भी वाक्यपदीय में इस तत्त्व को मनोग्रन्थि[1] तथा विवेक[2] शब्दों से भी कहा गया है।

प्राचीन काल से चत्वारि वाक् अथवा परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी की कल्पना की गई। पाणिनीय शिक्षा[3] में आत्मा, बुद्धि, मन तथा काम का प्रयोग भाषा की अभिव्यक्ति के लिए उल्लिखित है। पुनश्च प्राण और बुद्धि में रहने वाली वाक् शक्ति ही अलग-अलग वाक्-स्थानों से ध्वनि की उत्पत्ति करती है।[4] अन्यत्र भी शब्द को प्राणाधिष्ठान तथा बुद्ध्यधिष्ठान माना गया है।[5] निरुक्त में उद्धृत औदुम्बरायण भी शब्द को बुद्धि-तत्त्व में नित्य मानते हैं जिससे अयुगपदुत्पन्न शब्दों का सम्बन्ध तथा योग सम्भव होता है।[6] भर्तृहरि भी पदों के रूपनाश होने पर बुद्धि तत्त्व में कल्पित अर्थों को शब्द से अभिव्यक्त मानते हैं।[7] भर्तृहरि बुद्धि-तत्त्व से मिलते-जुलते एक चैतन्य तत्त्व को भी स्वीकार करते हैं जो भाषा की अभिव्यक्ति का साधन बनता है।[8] अन्यत्र इसी चैतन्य तत्त्व को 'चिति' तत्त्व रूप में भी अभिव्यक्त किया गया है जो वाक् की प्रेरणा में इतना

---

१. वा० प० वृत्ति १. पृ० २२६ ते मनोग्रन्थिमात्मानमाकाशादिषु

२. वही २. १६६

३. पाणिनीय शिक्षा १. ६ वाक्यपदीय १. वृत्ति पृ० १७६ पर उद्धृत

४. वही १ वृत्ति पृ० १७८

५. वही पृ० १७६ शब्दः खलु प्राणाधिष्ठानो बुद्ध्यधिष्ठानश्च।

६. निरुक्त १. १. तथा BROUGH, J Audumbarayana's theory of language BSOAS VOL. XIV; वा० प० २ ३४२
वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च लौकिकम्।
दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ॥

७. वा० प० २. ६५

८. वही ३. पृ० २४४ सन्दर्शने तु चैतन्यं विशिष्टं साधनं विदुः; वा० प० १.१ पर वृत्ति
प्रत्यक्चैतन्येऽन्तःसन्निवेशितस्य परसम्बोधनार्था व्यक्तिरभिष्यन्दते।

अधिक साधक होता है कि कुछ विद्वान् इसे वाक्तत्त्व रूप ही मानने लगे।[१] इससे स्पष्ट है कि भाषा की पृष्ठभूमि में भर्तृहरि ने बुद्धितत्त्व को मुख्य रूप से स्वीकार किया है।

बुद्धि-तत्त्व की आवश्यकता—बाह्य द्रव्यों की अभिव्यक्ति के लिए इस तत्त्व की महती आवश्यकता इसलिए है क्योंकि द्रव्यों की शक्ति का अनुमान लगाना कठिन है। सब द्रव्यों की शक्ति एक समान नहीं होती। अवस्था, देश तथा काल के अनुसार विभिन्न द्रव्यों की शक्तियां पृथक् पृथक् रहती हैं। यदि केवल हम अनुमान से ही उनके लिए तत् तत् शब्द का प्रयोग करते जाएं तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। इसी वस्तु के अभिधान के लिए दिक्, साधन तथा क्रियादि की भी कल्पना भर्तृहरि[२] ने की जो इसके साधक तत्त्व हैं। ये तत्त्व पदार्थों की शक्ति एवं रूप के निरूपण के लिए प्रयुक्त होते हैं क्योंकि भर्तृहरि के अनुसार पदार्थ, शक्ति तथा रूप अत्यन्त अनवस्थित हैं।[3] यद्यपि इन पदार्थों की शक्तियां कालक्रम से समाप्त हो जाती हैं तथापि कालान्तर में 'बुद्धि' के माध्यम से इनका स्मरण किया जा सकता है।[४]

पदार्थों के स्वरूप को अनुमाता अपनी बुद्धि के अनुसार परिवर्तित कर लेते हैं। सामान्य भाषा की परिणति विशेषज्ञ विशेष अर्थ में कर लेते हैं अथवा विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति भी सामान्य अर्थ में ग्रहण कर लेते हैं।[५] यह श्रोता के बुद्धितत्त्व पर ही निर्भर करता है। अतः पदार्थ के विषय में

---

१. वही १. पर वृत्ति पृ० १६३
योऽयं चैतन्ये वाग्रूपतानुगमस्तेन लोके ससंज्ञो विसंज्ञ इति व्यपदेशः क्रियते। अपि च वही १. ६ पर वृत्ति
तस्माच्चितिक्रियारूपमलब्ध्वा वाक्शक्तिपरिग्रहं न विद्यते। वाक् तत्त्वरूपमेव चितिक्रियारूपमित्यन्ये।

२. वा० प० १. ३२

३. वा० पा० ३. ६ १
दिक् साधनं क्रिया काल इति वस्त्वभिधायिनः।
शक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थिताः॥

४. वही ३. ६. ३६
काले निधाय स्वं रूपं प्रज्ञया यन्निगृह्यते।
भावास्ततो निवर्तन्ते तत्र संक्रान्तशक्तयः॥

५. १. ३४.

सामान्य अर्थ का अनुमान करना कठिन है। विशेष रूप से उन शब्दों का जिनका अर्थ सुनिश्चित नहीं होता। यथा शब्दों की व्यञ्जनाशक्ति प्रत्येक प्रमाता के अनुसार भिन्न होती है। व्यवहारावस्था में साधारण पदार्थों के लिए भी हम बुद्धि में एक २ प्रतीक निश्चित करते हैं जिससे हमें बाह्य-वस्तु का ज्ञान बुद्धि-जगत् में होता है[१] तथा उसी ज्ञान की संक्रान्ति हम ध्वनियों के रूप में बने बिम्बों के माध्यम से करते हैं। बुद्धि की विकसित अवस्था में ही यह प्रक्रिया सम्भव हो पाती है। अविकसित अवस्था में यथा शिशुओं में या अनवस्थित स्थिति में यथा उन्मत्तों की स्थिति में यह सम्बन्ध सम्भव नहीं है। इसलिए उन्मत्त लोग किसी अन्य अभिप्राय को अभिव्यक्त करना चाहते हैं परन्तु तद्भिन्न शब्दावली का प्रयोग करके उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाते। इसका अन्य प्रमाण इस बात में भी निहित है कि हम वाक्यों के अर्थों को उच्चारण से पूर्व अपने मस्तिष्क में सुनिश्चित करते हैं और बाद में ही तदनुरूप ध्वनियों का क्रमशः उच्चारण करते हैं।[२] बुद्धि-तत्त्व ही हमारे वाक्य का विश्लेषण करता है और हम शब्द-विन्यास का क्रम अलग-अलग भाषाओं में तदनुरूप बनाते हैं। यह होने पर भी हम अपने उत्कट मनोभावों, निन्दा तथा स्तुति-प्रधान वाक्यों को उसी सशक्त शब्दावली से सम्प्रेषित नहीं कर सकते जो हमारे मस्तिष्क में रहते हैं।[३]

अन्यत्र भी शब्दों को बुद्धि के द्वारा निरूपित पदार्थ का विषय कहा गया है।[४] अर्थनित्य का प्रतिपादन करते हुए कैयट ने भी इससे मिलते-जुलते भाव की अभिव्यक्ति की है यथा शब्दार्थ बुद्धि प्रतिभास है। जब-जब शब्द उच्चारित होता है तब तब तदर्थ के आकार की बुद्धि उत्पन्न होती है।[५]

---

१. वा० प० २. ३१ पर वृत्ति—यथैवाव्यपदेश······तथा व्यतिपातिनीषु व्यवहारिकीषु बाह्यास्वर्थमात्रास्वव्यपदेश्योपदेश्योपन्वीयमानविशेषं क्रमेण प्रत्यर्थनियतमुत्पद्यमानं बुद्धितत्त्वं बाह्यवस्तुतत्त्वेनैवोपभुज्यते।

२. वही. १. ९० व्यज्यमाने यथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः।
भागावग्रहरूपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्तते॥

३. वही २. २४७
स्तुतिनिन्दाप्रधानेषु वाक्येष्वर्थो न तादृशः।
पदानां प्रविभागेन यादृशः परिकल्प्यते॥

४. वही ३, पृ० १५०

५. महाभाष्य, १, पृ० ७, बुद्धिप्रतिभासः शब्दार्थः। यदा यदा शब्द उच्चरितः तदर्थाकारा बुद्धिरुपजायते इति।

शब्दार्थ प्रतिपत्ति तथा बुद्धि—बाह्य पदार्थ का स्वरूप वही हो जो हमारा इन्द्रिय-विषय होता है यह आवश्यक नहीं।[१] आँख में विकृति होने से बाह्य-पदार्थ भी विकृत दिखाई देता है अथवा रंग का भेद भी प्रतीत हो सकता है। इसी प्रकार बाह्य-पदार्थ के लिए उच्चारित एवं कल्पित पदार्थ की प्रतिपत्ति भी अनेकधा हो सकती है। यह सब हमारी कल्पना-जन्य अथवा बुद्धि-तत्त्व के माध्यम से ही होता है। बाह्य तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए भर्तृहरि ने पहले बुद्धि-तत्त्व तथा तदनन्तर शब्द-तत्त्व की कल्पना की है। इनके अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व से व्यवहार नहीं हो सकता। अभाव के लिए भी हमें किसी न किसी शब्द का व्यवहार करना पड़ता है जो कि केवल कल्पना-प्रसूत होता है। सत् अथवा असत् पदार्थ के लिए हमारी कल्पना में कोई न कोई द्रव्य-विशेष रहता है।[२]

बुद्धि-प्रक्रिया सम्भवतः केवल मुख्यरूप से संयोगी सम्बन्ध में ही प्रवृत्त होती है। बहुत अधिक चिन्तन के बाद हम समवायी सम्बन्ध पर पहुँचते हैं। समवायी सम्बन्ध की कल्पना करने में हमारी बुद्धि की पूर्ण सङ्गति तत् तत् द्रव्यों में अभिव्याप्त हो जाती है। अत एव समवायी को मुख्य तथा संयोगी को हम गौण समझते हैं। यह मुख्य एवं गौण भेद पदार्थों में बुद्धि-तत्त्व की गहनता एवं अभिव्यापकता के कारण ही होता है।[३]

शब्दकल्पना तथा बुद्धि—भर्तृहरि अर्थ में एकत्व एवं नियतत्व मानते हैं तथा शब्दों के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति की कल्पना करते हैं। यह एकत्व एवं नियतत्व हमारी बुद्धि में निहित रहता है जहाँ से हम तत् तत् विभाजनों यथा क्रियारूप, प्रातिपदिकरूप अथवा वाक्य, पद तथा ध्वनियों की कल्पना करते हैं। ये अभिव्यक्तियाँ एक समूह को अभिव्यक्त करने के लिए ही नाना उपाय हैं।[४] निस्सन्देह बुद्धि में शब्द तथा अर्थ अविभाजित

---

१. वा० प० २. ३४

२. वा० प० ३, ७, १०६,

भावेष्वेव पदन्यासः प्रज्ञाया वाच एव वा।
नास्तीत्यपदे नास्ति न वा सद् भिद्यते ततः ॥
बुद्धिशब्दौ प्रवर्तेते यथा भूतेषु वस्तुषु ।
तेषामन्येन तत्त्वेन व्यवहारो न विद्यते ॥

३. वा० प० ३, भाग, २, पृ० ३१

४. वा० प० २, १३१ अशक्तेः सर्वशक्तेर्वा शब्दैरेव प्रकल्पिता ।
एकस्यार्थस्य नियता क्रियादिपरिकल्पना ॥

रहते हैं और आवश्यकता होने पर एक-एक ध्वनि के रूप में उनकी परिणति होती है।[१] वक्ता के मस्तिष्क में एक क्रम निश्चित रहता है। जैसे बीज के पल्लवन के लिए एक एक भाव-क्रम अदृश्य रूप से होता है उसी प्रकार वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति के लिए एक-एक ध्वनिक्रम स्वयं ही निस्सृत होता है।[२] यह प्रक्रिया अभ्यास दशा से प्रारम्भ होती है और बुद्धि की एक विशेष दशा का निर्माण करती है जिसका सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ से जुड़ जाता है। जिस प्रकार एक चित्रकार के मस्तिष्क में भाव संहत रूप से रहते हैं परन्तु उस की अभिव्यक्ति रेखाओं के माध्यम से पट पर होती है[३]। यह अभिव्यक्ति एक-एक अंश से होती है न कि पूर्णता से। पूर्णता चित्रकार के मस्तिष्क में रहती है। भर्तृहरि से पूर्व निरुक्तकार ने भी एक-एक अंश की कल्पना से ही अनेक क्रिया-क्रमों की कल्पना की यथा अस्ति, जायते इत्यादि षड्भाव-विकार। प्रक्रिया के लिए भर्तृहरि ने बाह्य-पदार्थ को सत्य माना है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति के लिए मस्तिष्क में बनी अवधारणा को असत्य माना है। इसी असत्य की अभिव्यक्ति के लिए असत्य शब्दों का प्रयोग होता है जो बाह्य सत्य को अभिव्यक्त करते हैं।[४] इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि-तत्त्व एवं शब्द-तत्त्व दोनों काल्पनिक हैं। यह आवश्यक नहीं कि बाह्य पदार्थ वैसा ही हो जैसा हमारी बुद्धि में बनता है। उसका रूप, रङ्ग तथा आकार हमारी बुद्धि ठीक भी ग्रहण कर सकती है और गलत भी। मानसिक चित्र के लिए यह भी आवश्यक नहीं कि हम ठीक शब्दावली को ढूंढ

---

१. वा० प० २, १

आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः सङ्घातवर्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः॥

२. वही १, ६१

यथानुपूर्वीनियमो विकारे क्षीरबीजयोः।
तथैव प्रतिपत्तॄणां नियतो बुद्धिषु क्रमः॥

३. वही १, ५२

यथैकबुद्धिविषयो मूर्तिराक्रियते परे।
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते॥

४. वा० प० ३ भाग १, पृ० १०७

सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते।
असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते॥

पायें। ध्वनियाँ पूर्ण चित्र के एक अंश को भी अभिव्यक्त कर सकती हैं और समग्रता को भी। परन्तु इन काल्पनिक बुद्धि-तत्त्व एवं शब्द-तत्त्व का प्रयोजन बाह्य-पदार्थ को अभिव्यक्त करना ही है। इसीलिए बुद्धि एवं शब्द—इन दोनों तत्त्वों को भर्तृहरि ने असत्य माना है जिनका प्रयोजन सत्य को अभिव्यक्त करना है।

भर्तृहरि बुद्धिगत अर्थ को बाह्यवस्तु का निबन्धन मानते हैं परन्तु भर्तृहरि द्वारा उद्धृत कुछ अन्य अज्ञात आचार्य उसी शब्दार्थ को ही बाह्यवस्तु मानते हैं।[1] इसका अभिप्राय यह है कि भर्तृहरि बुद्धि-तत्त्व को बाह्यवस्तु के लिए साधन मान रहे हैं जबकि अन्य आचार्य साधन और साध्य में भेद न करके उनको एक ही तत्त्व के रूप में ग्रहण कर रहे हैं। स्पष्टतः बुद्धि-तत्त्व को अलग न मानने वाला एक वर्ग भर्तृहरि के काल में भी था।

पृथक्करण—अनेक स्थलों पर भर्तृहरि ने बुद्धि के एकत्व अथवा अनुसंहार को स्वीकार किया है। ध्वनि-दशा में यह मानसिक-स्थिति अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार का पृथक्करण भर्तृहरि ने वाक्यार्थ, जाति तथा साधन इत्यादि में माना है।

(१) **दिक्**—भागरहित परमाणु का भाग दिक् करता है और इस भाग के लिये प्रथम प्रकल्पना-शक्ति ही होती है।[2] भाग की प्रक्रिया में सादृश्य अथवा भेद दोनों हो सकते हैं। निर्भाग चेतस् से निर्भाग प्रकाश का भेद हो सकता है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि बुद्ध्यवस्था अथवा चेतस् वस्तुओं का अभेद होता है जबकि अभिव्यक्ति-अवस्था में इनका ध्वनियों के माध्यम से भेद हो जाता है। भागावस्था में अथवा अभिव्यक्ति की अवस्था में

---

१. वही २, १३२

यो वार्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धनः।
स बाह्यवस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते॥

२. वा० प०, ३, ६. १३

परमाणोरभागस्य दिशाभागो विधीयते।
भागप्रकल्पनाशक्ति प्रथमां तां प्रचक्षते॥

३. वही २, ६३

एकस्य भागे सादृश्यं भागे भेदश्च लक्ष्यते।
निर्भागस्य प्रकाशस्य निर्भागेणैव चेतसा॥

बुद्धि-तत्त्व के साथ इसका साम्य अथवा वैषम्य दोनों सम्भव हैं। पूर्वादि दिशाओं की कल्पना भी बुद्धि से ही सम्भव है।[1]

(२) क्रिया—क्रिया भी एक काल की घटना नहीं है। यह क्रम से उत्पन्न हुए अंशों का बुद्धि-तत्त्व में एक समन्वित रूप है जहाँ अनेक अंशों का अभेद होने पर ही क्रिया में एकत्व की कल्पना की जाती है।[2] सामान्यत: भर्तृहरि बुद्धि अंश में एकत्व से अनेकत्व की कल्पना करते हैं परन्तु क्रिया के सन्दर्भ में अनेक बाह्य तत्त्वों को यथा अग्नि-प्रज्वलन, अधिश्रयणादि अनेक तत्वों को मानसिक धरातल पर एक मानते हैं। अन्य शब्दों में क्षणों के क्रम होने पर क्रिया के भी क्रम होते हैं और एक उद्देश्य में प्रवृत्त अनेक क्रियाओं का बुद्धि में एकत्व होने पर ही उस साकल्य के लिये हम क्रिया पद का व्यवहार करते हैं।

(३) स्फोट—वृत्ति के अनुसार प्रयत्न-विशेष से उत्पन्न वर्ण, पद तथा वाक्य सम्बन्धी ध्वनियाँ तत्तत् वर्ण पद तथा वाक्य नामक स्फोटों को पुन: पुन: आविर्भूत करती हुई बुद्धि पर आरोपित करती हैं।[3] जैसे पहले कहा जा चुका है कि भर्तृहरि के अनुसार वाक्यार्थ पहले बुद्धि में होता है तदनुकूल ध्वनियाँ बाद में उत्पन्न होती हैं। स्फोट की कल्पना पहले करना और बुद्धि-तत्त्व की बाद में—यह परम्परा के विपरीत प्रतीत होता है।

(४) काल—बुद्धि-तत्त्व में काल भी पीड़ित अवस्था में रहता है जिसे अलग-अलग अर्थ वाली कलाओं के माध्यम से विभक्त किया जाता है। इसे बुद्ध्यनु-संहार भी कहते हैं।[4] काल का बुद्ध्यनुसंहार ही सम्भवत: भूतकाल

---

१. पा० प० ३, ६, ७
प्रत्यस्तरूपा भावेषु दिक् पूर्वेत्यभिधीयते।
पूर्वबुद्धिर्यतो दिक् सा समाख्यामात्रमन्यथा॥

२. वही० ३, ८, ४
गुणभूतैरवयवै: समूह: क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेद: क्रियेति व्यपदिश्यते॥

३. वा० प० १, पृ० १४८
वर्णपदवाक्यविषया: प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुन: पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वारोपयन्ति।

४. वही० ३, ९' ५७
कलाभि: पृथगर्थाभि: प्रविभक्तं स्वभावत:।
केचिद् बुद्ध्यनुसंहारलक्षणं तं प्रचक्षते॥

की घटना को वर्तमान के शब्दों में अभिव्यक्त करता है। भूतकाल की वस्तु भी वर्तमान बुद्धि में प्रतिभासित होती है जो कि बुद्धि-तत्त्व में अखण्डत्व को अभिव्यक्त करता है।[1] यथा कंसं घातयति में कंसहनन की प्राचीन घटना को बुद्धि-तत्त्व के माध्यम से वर्तमान 'घातयति' से अभिव्यक्त किया जा रहा है। इसे हम काल-साधारणीकरण भी कह सकते हैं जो केवल बुद्धि में ही सम्भव है।

(५) जाति—जाति-पृथक्करण की दशा में एक मानक जाति हमारे मस्तिष्क में रहती है जिससे हम सत्तान्तर का पृथक्करण करते हैं।[2] यथा ब्राह्मण को मस्तिष्क में मानव के रूप में रखने पर क्षत्रिय का पृथक्करण अथवा गोत्व के मस्तिष्क में रहने पर अश्वत्व का पृथक्करण।

(६) संख्या—उच्च धरातल पर अथवा पदार्थ के अभेद धरातल पर भर्तृहरि एकत्व की ही बुद्धि में कल्पना करते हैं। उसके अंशों को द्वित्वादि संख्याओं से प्रकट करते हैं।[3] इस सन्दर्भ में भर्तृहरि संघकल्पना करके अन्य बृहत् संख्याओं को भी मानते हैं।

(७) साधन—वाक्य में साधन अथवा कारकों की स्थिति भी पूर्णरूपेण बुद्धि-तत्त्व पर निर्भर करती है। किसी प्रत्यय का कोई विशेष अर्थ हो अथवा न हो, बुद्धि द्वारा कल्पित होने से उसी अर्थ को अभिव्यक्त करता है जो हमारी बुद्धि में है।[4] कारक में भी एकत्व में परन्तु बुद्धि की अवस्थाओं के कारण से ही उसे कर्तृत्व, कर्मत्व अथवा करणत्व से अभिहित किया

---

१. वही ३, ७, ५

शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥

२. वा. प. ३; १४, २६४

क्षत्रियादौ पदं कृत्वा बुद्धिः सत्तान्तराश्रया।
जात्या भिन्नां ततः सत्तां प्रसक्तामपकर्षति॥

३. वा. प. ३, २, १

संख्यावान् सत्त्वभूतोऽर्थः सर्व एवाभिधीयते।
भेदाभेदविभागो हि लोके संख्यानिवन्धनः॥

४. वा. प. ३, ७ ३

साधनव्यवहारश्च बुद्ध्यवस्थानिबन्धनः।
सन्नसन् वार्थरूपेषु भेदो बुद्ध्या प्रकल्प्यते॥

जाता है ।[१] इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि में हम वाक्यार्थ का विश्लेषण नहीं करते परन्तु उस अर्थ को अविभक्त रखते हैं । केवल अभिव्यक्ति की दशा में ही हमें विशेष विभक्ति-विन्यास तथा उनकी कोटियों की आवश्यकता होती है ।

यह कल्पना-प्रसूत जगत् और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम अपाय में स्थावर वस्तुओं को भी जङ्गम के समान व्यक्त करने लगते हैं । यथा—कुरुभ्य: पाञ्चाला अभिरूपतरा:" । इस वाक्य में कुरु एवं पाञ्चाल तो स्थावर हैं परन्तु हमारी कल्पना में उनमें अपाय होता है अत: एव वहाँ हम पञ्चमी का व्यबहार करते हैं ।[२] कारक-विवक्षा के सन्दर्भ में भी हमारी बुद्धि का भाग ही मुख्य है जहां हम कर्ता के स्वातन्त्र्य की कल्पना करते हैं और चेतन अथवा अचेतन पदार्थों में भी कर्तृत्व की कल्पना कर लेते हैं यथा राम: पचति, स्थाली पचति इत्यादि । अचेतन में अन्यत्र भी इसी अंश से ही चेतन सम्भव होता है यथा कर्तृकर्म में 'पच्यते ओदन: स्वयमेव'। सप्तमी आदि विभक्तियों के कुछ अंश यथा अभिव्याप्य सप्तमी "सर्वस्मिन्नात्मा अस्ति" भी बुद्धि-तत्त्व में व्याप्त काल्पनिक विचारधारा की मूर्त अभिव्यक्ति प्रतीत होते हैं ।

उपसंहार –उपर्युक्त विश्लेषण से प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने न केवल पदार्थों के ज्ञान के लिए बुद्धि-तत्त्व की कल्पना की, उनकी शक्ति एवं विशिष्ट ज्ञान को भी कल्पनासापेक्ष माना । बाह्य पदार्थ तथा भाषा के मध्य उन्होंने इस तत्त्व की कल्पना करके शब्दों की अपूर्णता की सीमा की भी व्याख्या की तथा इन तत्त्वों के सम्बन्ध भी स्थापित किए । बुद्धि-तत्त्व के माध्यम से पृथक्करण के सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उसे व्याकरण के व्यावहारिक पक्ष पर भी सर्वत्र घटाने की चेष्टा की ।

---

१. वा० प० ३, ७, १०४

एकस्य बुद्धयवस्थाभिर्भेदे च परिकल्पिते ।
कर्मत्वं करणत्वं च कर्तृत्वं चोपजायते ॥

२. वा० प० ३, ७. ४

बुद्धया समाहितैकत्वान् पाञ्चालान् कुरुभिर्यदा ।
पुनर्विभजते वक्ता तदापाय: प्रतीयते ॥

बौद्धसंस्कृतभाषाचिन्तनप्रक्रिया

—डा० रघुनाथ पाण्डे

बौद्धसंस्कृतस्योद्गमः

बौद्धसंस्कृतभाषाया उद्गमकालः क्रैस्ताब्दात्प्राग्जात इत्यैतिहासिकैरङ्गीकृतम् । क्रैस्ताब्दात्प्राक् तृतीयशतकप्रवेशादारभ्य अद्यावधि बौद्धधर्मस्य प्राधान्यं सततं वरीवृत्यते । राजभिः प्राधान्येन तस्यैव संरक्षणं जातम् । सम्राजः अशोकस्य प्रोत्साहनेन पाटलिपुत्रे बौद्धभिक्षूणां संघस्य तृतीया महासभा मुद्गलिपुत्रतिष्यस्याध्यक्षतायां सम्पन्नतामुपगता । समाप्तिं गतायां तस्यां महासभायां भिन्नभिन्नदेशेषु बौद्धधर्मं प्रतिष्ठापयितुं धर्मप्रचाराय स्थविराः प्रेषिताः । काश्मीरे गान्धारे च मज्झन्तिकस्थविरः प्रेषितः । अभिमहिषमण्डले महादेवः, वनवासे रक्षितः, अपरान्ते धर्मरक्षितः, महाराष्ट्रे महाधर्मरक्षितः, यूनानदेशे महारक्षितः, हिमवन्तप्रदेशे मज्झिमस्थविरः, लङ्कायाम् अशोकतनयः महेन्द्रः प्रहितः । एतत्सर्वं महावंशे (१२।१८) लिखितम् । एते सर्वे धर्मदूताः तत्तद्देशविशेषभाषासु पालिभाषायामुपनिबद्धं बुद्धोपदेशं प्रचारयामासुः । तत्परिणामतः बौद्धधर्मस्य भाषा पालिभाषायाः संस्थानपरिवर्तनं विधाय तत्तद्देशविशेषमिश्रितासु भाषासूपनिबद्धा । चुल्लवग्गे भगवता बुद्धेन स्वयमेव निर्दिष्टमासीत् "सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं ।" केन चन विदेशीयपण्डितेन लिखितम् । "Buddhism from the very start was preached in a variety of dialects by different members of Buddha's congregation". सर्वप्रथमं बौद्धधर्मः लङ्कामुपगतः । श्रीलङ्कायां स्वकीयो व्यापकः प्रबलश्च प्रभावः स्थापितः । तदानीं यावत् बौद्धानामागमप्रयुक्ता भाषा पालिभाषा एवासीत् ।

क्रैस्ताब्दात् प्राक् हीनयानधर्मगुप्तकमहिशासकमहासांधिकप्रभृतीनां सम्प्रदायानां वेपुल्लकानाञ्च बाहुल्येन प्राधान्यं जातम् । श्रीलङ्कायां सप्तमे अष्टमे च शतके अधिगता अभिलेखा एतत् सम्यक् प्रमाणयन्ति । तस्मिन्समये अभयगिरिः संस्कृताध्ययनस्य केन्द्रमासीत् । सिंहलग्रन्थैर्ज्ञायते यत् तत्र महा-

यानसम्प्रदायस्यानेकेषां संस्कृतलेखकानां ग्रन्थाः पठ्यन्ते स्म । आर्यशूरस्य जातकमाला, चन्द्रगोमेर्व्याकरणम्, शान्तिदेवस्य बोधिचर्यावतारश्चोल्लेखनीयाः ग्रन्थाः सन्ति ।

बौद्धधर्मस्य महान् संरक्षकः कुशाणसम्राट् कनिष्क आसीत् । अनेन धर्मान्तरेषु साहाय्यं प्रदायान्तर्हृदि सहानुभूतिं परिपाल्यापि रक्षित्वापि च बौद्धधर्मोऽतीव प्रोत्साहितः । काश्मीरस्य गान्धारस्य चाचार्येष्वनेके मतभेदा आसन्, तानपाकर्तुमनेन श्रीनगरस्य कुण्डलवने विहारे चतुर्थी बौद्धमहासभा समाकारिता । तत्राश्वघोषवसुबन्धुभ्यां विशिष्टं कार्यं परमकौशल्येन सम्पादितम् । सम्प्रदायान्तर्गतभिन्नभिन्नमतभेदानामपाकरणाय त्रिपिटकस्य विभाषाभिधा टीका लिखिता अभूत् । टीकेयं ताम्रपत्रे उत्कीर्य एकस्मिन् स्तूपे स्थापिता । काश्मीरं कनिष्कस्य प्रोत्साहनेन चतुर्थ्याः बौद्धमहासभायाः संगीतेरनन्तरं सर्वास्तिवादस्य प्रसिद्धं केन्द्रमभूत् । चतुर्थशतकमध्य एशियातः कुमारजीवो बौद्धधर्मं शिक्षितुं काश्मीरं समागमत् । तत्र त्रीणि वर्षाणि व्यतीत्य काश्मीरपण्डितैः साकं तेन वैयक्तिकः सम्बन्धः स्थापितः । तस्य प्रेरणया अनेके पण्डिताः मध्यएशियां चीनदेशञ्च गन्तुं सन्नद्धाः बभूवुः । पुण्यजातः चतुर्थे ईसवीयेऽब्दे चीनं गतस्तेन च कुमारजीवाय साहाय्यमनुवादकार्ये प्रदत्तम् । बुद्धयशोनामा काश्मीरो विद्वान् तथा च गौतमः संघदेवः धर्मयशाः पुण्यवर्मा, गुणभद्रः बुद्धवर्मा इत्यादिभिः विद्वद्भिः सर्वास्तिवादस्य ग्रन्था अनूदिताः अध्यापिताश्च, सर्वास्तिवादिनां बौद्धग्रन्थाः संस्कृतेऽनूदिताः । ते चेदानीं चीनतिब्बतीभाषयोरन्तर्हिताः केचन समुपलब्धाश्च । बौद्धसंस्कृतस्य स्वरूपाणि तेभ्य एवावगन्तुं शक्यन्ते ।

नेपालदेशे च महायानसम्प्रदायस्य वैशिष्ट्यमासीत् । तत्र च प्रज्ञापारमिता, ललितविस्तरः, रत्नकूटः, सद्धर्मपुण्डरीकः सुवर्णप्रभासोत्तमः, महायानसूत्रालङ्कारः, लङ्कावतारसूत्रम् इत्यादयोऽनेके ग्रन्थाः संस्कृते उल्लिखिताः सन्ति तेषु बौद्धसंस्कृतस्य स्वरूपाण्युपलब्धानि सन्ति ।

बौद्धानामागमग्रन्थाः पालिभाषायां समुपलब्धास्तेषु च विदुषां प्रयासेन इदानीमपि मूलरूपेण देवनागराक्षरे सिंहलवर्माश्यामदेशाद्यक्षरेषु संगृहीताः । कनिष्ककाले पालिभाषायां लिखितानां ग्रन्थानां संस्कृतभाषया रूपान्तरं जातम् । तत्र शुद्धसंस्कृतस्य तथा च पालिप्राकृतभाषयोश्च स्वरूपाणि

मिश्रितानि सन्ति। बौद्धेषु कदाचित् लोकोत्तरवादस्य प्राधान्यमासीत्। अस्य सम्प्रदायस्य केचन ग्रन्थाः सर्वथा विलोपं गताः। परमद्यत्वे ते तिब्बतीचीन-भाषासूपनिबद्धाः सन्ति। अधुना 'महावस्तु' आगम उपलभ्यते, तस्मिन् बौद्ध-संस्कृतस्य मूलरूपाणि विवृतानि सन्ति। महापण्डितराहुलसांकृत्यायनेन केचन ग्रन्था ये कुटिलाक्षरे प्राचीननेवारीबङ्गाक्षरे प्राचीनमिथिलाक्षरे चोपनिबद्धाः सन्तः तिब्बतविहारेषु निक्षिप्ताश्चासन् तेषां प्रयासबाहुल्येना-न्वेषणं विधाय तालपत्रे समुट्टङ्किताः हस्तलिखिताः ग्रन्था अत्र समानीतास्तेषु प्रकाशितांशेषु बौद्धसंस्कृतस्य रूपाण्युपनिबद्धानीति प्रतीयते।

चीनदेशवास्तव्यानां यात्रिणां कथनानुसारेण खोतानप्रदेशे बौद्धधर्मस्य प्रचारकः वैरोचनः काश्मीराज्जगाम। अस्य समयः क्रैस्ताब्दस्य षष्ठिवर्षे पूर्वमासीत्। मध्यएशियादेशस्य विभिन्नानि काशगरखोतानशाणकुमारकाश-हरराज्यानि भारतीयां लिपिमग्रहीषुः। समग्रस्य देशस्य साहित्यभाषा संस्कृत-मेवासीत्। एभ्यः स्थानेभ्यः बौद्धधर्मशास्त्रसम्बन्धिनोऽनेके ग्रन्थाः प्राप्ता बभूवुः। एषां केषुचित् ग्रन्थेषु संस्कृतमूलेन साकं स्थानीयभाषानुवादोऽपि वर्तते। एतानि स्थानानि बौद्धधर्मस्य प्रचारस्य संस्कृताध्ययनस्य च केन्द्राणि जातानि। अस्मिन् देशे भारतीया विद्वांसो बौद्धधर्मस्य विभिन्नान् सम्प्रदायान् प्रचारितवन्तः। एतेनैवम्प्रतीयते यद्भिन्नभिन्नदेशादागतानां विदुषामध्ययना-ध्यापनस्य यानि केन्द्राण्यासन् तानि सर्वाणि बौद्धसंस्कृतभाषाकेन्द्राणि प्रति-ष्ठितानि।

बौद्धसंस्कृतभाषास्वरूपम्

बौद्धसंस्कृतस्य मिश्रसंस्कृतं संकरसंस्कृतं गाथासंस्कृतमिति व्यपदेशाः सन्ति। शर्मण्यदेशवास्तव्येन एडगर्टननाम्ना केनचन विदेशीयपण्डितेन बौद्ध-संस्कृतस्य व्याकरणं शब्दकोशश्च प्रथमतयोपनिबद्धे। तेन "हाईवृड" इति संज्ञा प्रदत्ता। अस्य संस्कृतस्य रूपाणि गाथासूपनिबद्धानि। गाथास्वेव मूलरूपाण्यधिकांशतः सुरक्षितानि सन्ति तस्मात् गाथासंस्कृतमित्यपि व्यपदेश-स्तत्र सञ्जातः। भाषावैज्ञानिकैर्विद्वद्भिर्भारतीयार्यभाषायाः प्राचीनभारतीया-र्यभाषा, मध्यभारतीयार्यभाषा, आधुनिकभारतीयार्यभाषा एवं रूपेण त्रयो विभागाः स्वीकृताः। परं प्राचीनमध्यनवीनासु मध्यभारतीय आर्यभाषासु पालिभाषा प्राकृतभाषाश्चाधिकृताः। पालिप्राकृतभाषयोश्च लक्षणानि निरूपि-तानि किन्तु न कैश्चिदपि बौद्धसंस्कृतस्य संस्थानमधिगतम्। मध्यभारतीयभाषा-

न्तर्निविष्टं बौद्धसंस्कृतं तस्य चैतिहासिकतथ्यं लक्षणञ्चाविष्कर्तुमिदानीं यावन्न प्रयासो विहित इति निरूपणीयोऽयं विषयस्तस्मादेवैषा विचारणा अत्र प्रवृत्ता ।

बौद्धसंस्कृतं मिश्रसंस्कृतमिति केचन संकेतयन्ति । परमियमाख्या न समीचीना प्रतिभाति । यतः वेदेऽपि लौकिकसंस्कृतस्य वहुधा रूपाणि सन्ति । कुत्रचिदपि जानपदीया अपि भाषाः प्रयुक्ताः सन्ति । यथा—"सृण्येव जर्फरी तुर्फरी" इत्यादि मन्त्रेषु जानपदीया भाषाः सन्निविष्टाः परं वैदिकसंस्कृतस्य मिश्रवैदिकसंस्कृतमित्याख्यां विपुलमतयोऽपि समर्थयितुं न प्रोत्सहन्ते । एवमेव पालिप्राकृतभाषयोरपि वैदिकशुद्धपालिशुद्धप्राकृताः सन्ति तत्र शुद्धसंस्कृतं जानपदीयाश्च भाषा अन्तर्निविष्टाः तस्मात् कथं न मिश्रप्राकृत इति समाख्या स्यात्, एवं कदापि न भवितुमर्हति । बौद्धसंस्कृतेऽपि शुद्धसंस्कृतपालिप्राकृताः जनपदभाषाश्चाधिगताः प्रयुक्ताश्च दृश्यन्ते तस्मात् मिश्रसंस्कृतं संकरसंस्कृतमिति समाख्या कदापि न मन्मते प्रतिभाति । केचन गाथासंस्कृतमिति प्रयुञ्जते परमिदमप्यसमीचीनम् । यतो हि गद्येषु पद्येषु च बौद्धसंस्कृतप्रयुक्ताः गाथाः सन्ति तस्मात् यदि गाथा संस्कृतमित्याख्या अङ्गीकरणीया भवति तर्हि कथं न गद्यसंस्कृतमित्याख्या समीचीना स्यात् । एवं कदापि न भवितुमर्हति तस्मात् गाथासंस्कृतमित्याख्या असमीचीना । बौद्धसंस्कृतमेव समीचीनं यतः बौद्धधर्मस्य दर्शनस्य च केवलं सिद्धान्ता अत्र प्रतिपादिताः सन्ति, न जैनानां ब्राह्मणानामन्येषामपि केषाञ्चिदपि धर्माणां समावेशस्तस्मात् बौद्धसंस्कृतमित्याख्यां समर्थयामो वयम् ।

शून्यवादिना आचार्यचन्द्रकीर्तिना नागार्जुनकृतमाध्यमिककारिकाया व्याख्यानावसरे प्रसन्नपदा नाम्नी या टीका व्यरचि तस्यां कतिपयानि पद्यानि उद्धृतानि तेषु बौद्धसंस्कृतभाषायाः स्वरूपं सम्यगुट्टङ्कितमिति ।

उपालिपरिपृच्छायामियं गाथा सभुज्जृम्भिता तत्र बौद्धसंस्कृतभाषायाः स्वरूपमित्थं परिलक्षितम् ।

"भयदर्शितनैरयिकं मे सत्त्वसहस्रसवेजित नैके । न च विद्यति कश्चिह सत्त्वं यो च्युतु गच्छति घोरमपायं" ॥

अस्यां गाथायां विद्यति इति पदं परस्मैपदे प्रयुक्तम्, परं लौकिकसंस्कृते विद्यते इत्यात्मनेपदे एव दृश्यते । पालिभाषाप्रभावेणोपलक्षितत्वात् बौद्ध-

संस्कृते "विद्यति" इति पदमत्र प्रयुक्तम् । तत्र विद्यति इत्यस्य स्थाने विज्जति रूपमुपलभ्यते ।

यथा बौद्धसंस्कृते पालिभाषाया अधिकः प्रभावः परिलक्ष्यते तथैव शुद्ध-संस्कृतस्य प्राकृतभाषायाश्च ।

"कश्चिह" इति पदं गाथायां प्रयुक्तं तत्पदमव्ययपदम् । यथा संस्कृते अव्ययानि तथैव बौद्धसंस्कृतेऽपि इमानि सन्ति । अत्र कश्चिदिति संस्कृता-व्ययस्यान्ततकारस्य लोपः संवृत्तः । अयं प्रभावः स्वतन्त्रः स तावत् पालि-भाषायाः प्रभावः । पालिभाषायां कोचि, केचि, कच्चि इत्यादि पदानि प्रयुक्तानि सन्ति । अन्यदपि वैशिष्टयमत्र लक्ष्यते यत् कश्चि इत्यस्येकारस्य एवं "इति" इत्यस्येकारस्य अत्र दीर्घीकरणरीत्या 'कश्चीह' इति रूपमत्र विनिर्दिष्टम्, बौद्धसंस्कृतस्य स्वच्छन्दोऽयं प्रयोगः, येन सजातीयस्वराणां एकत्र दीर्घीकरणभावः सञ्जातः । अनवतप्तह्रदापक्रमणसूत्रे च—

"यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो
न तस्य उत्पादु सभावतोऽस्ति ।
यः प्रत्ययाधीनु सशून्य उक्तो
यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः ॥"

अत्र "जायति" क्रियापदस्य परस्मैपदे नित्यः प्रयोगः पालिव्याकरण-प्रभावेण परिलक्ष्यते । परं लौकिकसंस्कृते जनी प्रादुर्भावे इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नं पदं जायते इत्यात्मने पदे नित्यप्रयोगः । एवञ्च "जानति" इति बौद्धसंस्कृत-प्रयोगस्य नकारोत्तरवर्तिदीर्घीभूतस्य अकारस्य लोपः सम्वृत्तः । अयं बौद्ध-संस्कृतस्य स्वच्छन्दप्रयोगः न लौकिकसंस्कृतस्य न वा पालिभाषाप्रयोगोऽत्र दृश्यते ।

"किञ्च—"उत्पादु" "प्रत्ययाधीनु" इत्युभयोः पदयोः बिसर्गस्थाने विसर्गस्य उकारः संवृत्तः । एवं वैशिष्ट्यं बौद्धसंस्कृतस्यैव नान्यत्र । लौकिक-संस्कृते तु पदान्तविसर्गस्य पदान्तरसन्निविष्टेनैव विसर्गस्य उकारो वा भवति लोपो वा । पालिभाषायान्तु विसर्गाभावस्स्यात् बौद्धसंस्कृतस्यायं स्वतन्त्रः प्रयोगः ।

नान्तरतो न पि बाहिरतो वा लभ्यति तत्र निवेशयि नाथः ।
शान्तगति कथिता सुगतेन नो च गति उपलभ्यति काचि ॥

अत्र "बाहिरतो" इत्यस्य संस्कृते बाह्यतो भवति । एकस्मिन्नेव पदे यकारस्य संप्रसारणीकरणे इकारः सम्प्रयुक्तस्तदा 'बाहिरतो' इति पदमत्र

प्रयुक्तम् । लौकिकसंस्कृतसम्प्रसारणनियमानतीत्यैवात्र सम्प्रसारणं जातं परं पालिभाषासंस्कृतभाषानियमेषु मतभेदाः दृश्यन्ते । बौद्धसंस्कृते पालिसम्प्रसारणनियमानां प्रभावोऽत्र लक्ष्यते ।

यदा उपसर्गेण सार्धं प्रयुक्तानां कृदन्तप्रत्ययानां वैशिष्टचमत्र पर्यालोच्यते तदा निपूर्वकात् विश् इत्यस्माद्धातोः क्त्वाप्रत्यये कृते सति ल्यप् विधानेन बौद्धसंस्कृते निवेशयि इति रूपं निष्पन्नतामुपगतम् । संस्कृते तु निवेश्य इति पदप्रयोगः समुचितः । अत्रापि बौद्धसंस्कृतस्य स्वच्छन्दप्रयोगः परिलक्ष्यते ।

"आदितशून्य अनागतधर्मा
नो गत अस्थितज्ञानविविक्ताः ।
नित्यमसारकमाय सभावाः
शुद्धविशुद्धनभोपम सर्वि ॥"

आर्यरत्नमेघसूत्रस्यैकस्यां गाथायां बौद्धसंस्कृतस्य मूलरूपाणि परिलक्षितानि सन्ति । यथा—

सर्व इत्यस्य प्रथमाबहुवचने लौकिकसंस्कृते सर्वे इति पदम्प्रयुक्तं परमत्र सर्वि इति पदं निष्ठचन्तम् । संज्ञायां सर्वनाम्नि च बहुविधानि परिवर्तनानि बौद्धसंस्कृते सन्ति । उपरिलिखितायाः गाथाया अवलोकनेन दृश्यन्ते ।

मध्यदेशावस्थितानां महासान्धिकबौद्धेषु लोकुत्तरसम्प्रदायावलम्बिनां भाषा बौद्धसंस्कृतभाषा मूलरूपेण हीनयानमहायानिकागमेषूनिबद्धाः सन्ति । वैशाल्यां समायोजितायां द्वितीयबौद्धमहासभायां क्रैस्ताब्दात् प्राक् चतुर्थे शतके एव स्थविरवादात् पृथक्त्वमुपगतास्ते । महासाङ्घिका भगवतो बुद्धस्यातीतानागतप्रत्युत्पन्नकालिकेषु बुद्धोपदेशेषु विश्वासं कुर्वाणाः लोकुत्तरसत्त्वरूपेण विख्याता वभूवुस्तस्माल्लोकुत्तरवादिन एते इति संज्ञां लभन्ते । एतेषां मुख्यो ग्रन्थः "महावस्तु" । अस्मिन्ग्रन्थे शुद्धसंस्कृतस्य पालिप्राकृतभाषयोश्च रूपाणि विशेषरूपेण उल्लेखनीयानि सन्ति । अस्य ग्रन्थस्य परिच्छेदान्तरे "आर्यमहासान्धिकानां लोकुत्तरवादिनां मध्युद्देशपाठकानां पाठेन महावस्तुये आदि एवं लिखितम्, तेन संकेतेन प्रतीयते यत् जानपदीया भाषा मध्यदेशे या प्रचलिता सा लोकुत्तरवादिग्रन्थेषु सुतरां सन्निविष्टा । अतएव लोकुत्तरबौद्धसंस्कृते मध्यदेशीयः प्रभावः सुतरां परिलक्ष्यते ।

भाषावैज्ञानिकदृष्ट्या बौद्धसंस्कृतस्य बहुविधानि लक्षणानि सन्ति परं व्याकरणशास्त्रनिर्दिष्टनियमानाधारीकृत्य इमानि लक्षणानि संघटन्ते न वेति

विचारः। समीकरणरीत्या व्यञ्जनान्तर्गतानां वर्णानां कुत्रचित् लोपीकरणानि कुत्रचित् च द्वित्वीकरणानि समुपलभ्यन्ते। यथा

"उच्यन्ते=प्रोच्यन्ते" इत्यस्य स्थाने "वुच्चति पवुच्चति" इति पदानि प्रयुक्तानि भवन्ति। परमत्र पालिभाषायाः पाठोऽङ्गीकृतः, व्याकरणनियमाश्चात्र निर्दिष्टव्याः।

अनुनासिकातिरिक्तानां व्यञ्जनवर्णानां लोपप्रक्रिया बौद्धसंस्कृते परिलक्ष्यते यथा "यावत्" "कानिचित्", "कस्यचित्" "पश्चात्" इत्येषां पदानां तकारलोपं कृत्वा क्रमशः "यावत्" "कानिचि" "कस्यचि" "पच्छा" इमानि पदानि बौद्धसंस्कृते समुपलभ्यमानानि सन्ति। कथमत्र लोपप्रक्रिया संवृत्ता किं वात्र व्याकरणनियमानां व्यत्ययो जात इति निरूपणीयम्। एवञ्च दीर्घीभूतानां स्वराणां ह्रस्वीकरणम्, ह्रस्वीकृतानां स्वराणां दीर्घीकरणम्, एवं वैशिष्टयं बौद्धसंस्कृते बहुधा परिलक्ष्यते। यथा—लौकिकसंस्कृते "प्रत्यभाणीत्" इति पदं बौद्धसंस्कृते "प्रतिभाणितो" पालि "परिभाणितो" एवं रूपेण परिवर्त्यते। एवञ्च "अनुशास्ति" इति "आनुशास्ति" रूपेण दृश्यते। लौकिकसंस्कृतस्य "इदानीम्", बौद्धसंस्कृते "दानि" "तदानि" रूपेण परिवर्तितम्। क्रिमिमानि पदानि संस्कृतपालिप्राकृतशास्त्रसम्मतप्रक्रियया परिवर्तितानि स्वच्छन्दरूपेण वा प्रयुक्तानि, इति विचारणीयोऽयं विषयः। सन्धिसमासक्रियाकृदन्तादिप्रकृतिप्रत्ययेषु बहुविधानि परिवर्तनानि लक्ष्यन्ते तानि किं व्याकरणशास्त्रलक्षणपुरस्सराणि वा व्याकरणनियमपरिपालनपूर्वकमेव परिणतानि वेति भाषाचिन्तनप्रक्रियाया मुख्यो विषयः। यदि व्याकरणनियमोपनियमानतीत्यैव परिणतानि तर्हि जानपदीयभाषायाः स्वच्छन्दोऽयं प्रभावः स्यात्। भाषायाः स्वच्छन्दप्रवाहस्तु ध्वनिपरिवर्तने अर्थपरिवर्तने च परिलक्ष्यते। कथमेवं विद्वद्भिश्चिन्तितम्। अत्र विवेचनीयम्। अर्थपरिवर्तनमाधारीकृत्य स्त्रीलिंगपुंल्लिगादिनियमेषु च महान् व्यत्ययः सम्वृत्तः। यथा—"सत्यानि चतुरो" "अयं लोकः सर्वशून्यं भविष्यति" अत्र सत्यानि नपुंसके प्रयोगः परं चतुरः इति पुंल्लिगे प्रयोगः। लोकः पुंल्लिगे परं शून्यं नपुंसके। एषु प्रयोगेषु विशेष्यविशेषणलिंगेषु अनियमितता परिलक्ष्यते। कारकप्रयोगे च अनियमितता यत्र कुत्रचित् दृश्यते। तथा तृतीयाया प्रयोगस्थाने कर्तृकारकप्रयोगः। "सो दानि राजा... परिभोगानि च दिन्ना" सो कण्डो तस्य राज्ञो पादमूले स्थित्वा पादफलकं खण्डखण्डानि कृतम्"। अथ तृतीयाप्रयोगस्थाने प्रथमाकारकप्रयोगः अयमपि व्याकरणनियमानां व्यतिक्रमः। कुत्रचित् सप्तमीविभक्तिस्थाने तृतीयाविभक्तेः प्रयोगः। यथा "द्वीहि कुलेहि बोधिसत्त्वा जायन्ति"। षष्ठी-

विभक्तेः पञ्चमीविभक्तिस्थाने प्रयोगो दृश्यते । यथा "जिनमातुः उपगता द्रष्ट-मना" इत्यादि—

प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाणां प्रयोगे च वैलक्षण्यं प्रतिभाति बौद्धसंस्कृते—यथा—"तुवं, त्वं, अस्मेहि, मये, ममतो, हृम्मि" इत्यादिप्रयोगाः परि-लक्ष्यन्ते ।

अलंकाराणां छन्दसां प्रयोगे च वैलक्षण्यं प्रतिभाति यथा—उपमा—आम पात्रं वा अम्बुना । गर्जन्ति मेघा यथ अन्तरीक्षे । धनपतिरिव गुह्यकाधिपतिः । पुष्पं इव उदुम्बरं ।

रूपक—हरिणवत्सनयना ।

दीपक— चित्तस्थितित्वे असि पारमिं गतो । वसी समाधिस्मिं तथापि पुद्गल ।

यमक—पुनर्पुनः क्षिप्र वपन्ति बीजं पुनर्पुनः वर्धन्ति बीजग्रामं ।

अनुप्रास—श्रुत्वा गजेन्द्रवचनं मनुजेन्द्रो सुमधुरं । अलंकाराणां प्रयोगेषु बौद्धसंस्कृतस्य रूपाणि विशेषतः परिदीपितानि । एवमेव अनुष्टुप् वसन्त-तिलका उपेन्द्रवज्रा एतेषां छन्दसां प्रयोगे च वैलक्षण्यं प्रतिभाति । यानि लक्षणानि बौद्धसंस्कृतस्य समासेन प्रकीर्तितानि तत्र अस्य संस्कृतस्याध्ययना-ध्यापनप्रक्रियाप्रयोगाः व्याकरणनियमेभ्यः कथं विरुद्धाः कथञ्चानियमितता अस्य क्रमिकविवरणं पश्चात् उत्तानीकरिष्यते ।

भाषा-चिन्तन में प्रतिभा की अवधारणा

डा० रमण कुमार शर्मा

यजुर्वेद देवताओं और पितरों के द्वारा भी पूजनीय जिस तत्त्व को 'मेधा' नाम से स्मरण करता है,[1] ऐतरेयोपनिषद् तक आते-२ वही तत्त्व संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, स्मृति, सङ्कल्प, क्रतु, असु, काम, वश इत्यादि अनेक पदार्थों के साथ प्रसिद्ध हो चला था।[2] वाक्सूक्त में वाक्तत्त्व आत्मविवेचन के रूप में कहता है कि मैं (शब्द) ब्रह्म-द्वेषी के विनाश के लिए रुद्र को शक्ति युक्त करता हूँ।[3] प्रतिभा का स्वरूप मुख्यतः रुद्ररूप ही है जो प्रत्येक व्यक्ति के भौतिक शरीर में निमीलित तृतीय नेत्र है। व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट ने प्रतिभा को व्यक्ति का वह तृतीय नेत्र बताया है जिससे वह त्रिलोकवर्ती भावों का साक्षात्कार करता है।[4] इससे पूर्व भर्तृहरि इसी तत्त्व को समस्त ब्रह्माण्ड की मूल शक्ति मान चुके थे[5] और कालिदास ने इसे सन्देहास्पद वस्तुओं में प्रमाणभूत अन्तःकरण की वृत्ति कहा था।[6]

---

१. यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ॥ यजुर्वेद ३२।१४

२. संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानम्......प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।
ऐतरेयोपनिषद्, ३।२

३. अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ।
अहं जनाय समदं करोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥
ऋग्वेद १०।१२५।६

४. क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥
व्यक्तिविवेक २।११७-११८

५. शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी।
यन्नेत्रः प्रतिमात्मायं भेदरूपः प्रतीयते। वाक्यपदीय १।११९

६. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।
अभिज्ञानशाकुन्तलम् १।२३

भर्तृहरि ने प्रतिभा को स्वसंवेदनसिद्ध कहा है, जिसका इदमिति के रूप में व्याख्यान नहीं हो सकता। स्वयम् अनुभवकर्त्ता भी नियत रूप से उसका निरूपण नहीं कर सकता।[1] भर्तृहरि के इस विवेचन के आधार पर ही भोज ने प्रतिभा का स्वरूप निरूपित किया है। पदों के अपने-अपने अर्थ का अभिधान करवा चुकने पर पदार्थप्रतिपत्ति के अनन्तर उपजायमान "इदं तद्" इस रूप में अनाख्येय हितप्राप्ति और अहितपरिहार की हेतुभूत प्रवृत्त्यनुकूल बुद्धि ही प्रतिभा है।[2] इस प्रकार प्रतिभा से उपगृहीत होकर ही समस्त प्रमाण प्रमाणता को प्राप्त करते हैं।[3] वस्तुतः यह एक जन्म का न होकर जन्मान्तरों का संस्कार विशेष ही है, जिसके बल से पशुपक्षियों की भी कार्यों में प्रवृत्ति होती है।[4] साहित्यदर्पणकार ने रसास्वादन के सन्दर्भ में हरदत्त की एक कारिका उद्धृत की है, जिसमें इसके लिए 'वासना' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ कहा गया है कि वासना अर्थात् प्रतिभा से युक्त व्यक्ति ही काव्यरस का आस्वादन कर पाता है, प्रतिभाहीन व्यक्ति तो लकड़ी और लोहे के समान जड़ होते हैं।[5] मानों शरीर का चैतन्य अंश यह प्रतिभा ही है जिसके बिना व्यक्ति वाक्तत्त्व अथवा अर्थतत्त्व को देखता हुआ भी नहीं देखता है, सुनता हुआ भी नहीं सुनता है जबकि प्रतिभाशील व्यक्ति के सामने वाणी अपना सर्वस्व अनावृत कर देती है।[6] इसकी अनादि वासना से

---

१. इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथञ्चन।
प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते॥ वाक्यपदीय २।१४४

२. स्वं स्वमर्थमभिधायोपरतेषु पदेषु परार्थप्रतिपत्त्यनन्तरमुपजायमाना इदं तदिति व्यपदेश्यानुपदेशसिद्धा हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुः प्रवृत्त्यनुकूला बुद्धिः प्रतिभा।   शृङ्गारप्रकाशः

३. प्रतिभोपगृहीतानि सर्वप्रमाणानि प्रमाणतां लभन्ते।   वही

४. प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति।
समारम्भाः प्रतार्यन्ते तिरश्चामपि तद्वशात्॥
वाक्यपदीय २।१४७

५. सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः॥
साहित्यदर्पण, ३।८

६. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
ऋग्वेद० १०।७१।४

पदार्थों में परस्पर संश्लेष सा होता है, मानो स्वयं प्रतिभा ही तत्तद्विषयाकार में आकारित हो गई हो।[1]

वैयाकरणों की दृष्टि में क्योंकि अखण्ड वाक्य ही अभिव्यक्ति की इकाई है, अतः वाक्य को सुनने से श्रोता अपनी बुद्धि में जिस प्रकार का अर्थ-निर्धारण करता है, वह उसकी प्रतिभा है। भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि विभिन्न पदों के अर्थग्रहण के अवसर पर उनसे एक विशेष प्रकार की प्रतिभा उद्‌बुद्ध होती है, वही वाक्यार्थ है।[2] एक ही स्त्री को प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार घृणित, प्रिया अथवा उपभोग्य समझता है। एक ही "गतोऽस्तमर्कः" इत्यादि वाक्य बालक, अभिसारिका इत्यादि में विभिन्न प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करता है। इस प्रकार पुरुषों की अनेक प्रकार की भावनाएं होने के कारण वाक्यार्थ के एक होने पर भी उसमें अनेक प्रकार के विकल्प सम्भव हो पाते है।[3] वाक्य का साक्षात् होते ही मानों श्रोता की प्रतिभा ही अर्थरूप में साक्षात्कृत हो जाती है।

इस प्रकार अर्थबुद्धि का नियामक होने पर भी श्लोकवार्त्तिक के लेखक कुमारिलभट्ट के अनुसार प्रतिभा को ही वाक्य का अर्थ मानना इसलिए उचित नहीं कि वाक्यार्थ कोई बाह्य पदार्थ ही हो सकता है।[4] परन्तु प्रतिभा बाह्य पदार्थ नहीं है क्योंकि बाह्य अर्थ एक ही स्वभाव वाला होता है परन्तु एक वीर चरित्र विभिन्न पुरुषों में उनकी बुद्धि के अनुसार वीरता और भय इत्यादि विभिन्न भावनाओं का उद्‌बोधक होता है। अत एव नागेश ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि प्रतिभा के विषयभूत बाह्य पदार्थ प्रतिभा का अर्थ है। प्रतिभा से उनका बोध होता है। अतः "प्रतिभा वाक्यार्थः" के स्थान पर "प्रतिभया वाक्यार्थः" कहकर इस विषय को सरलता से समझा जा सकता है। परन्तु प्रतिभा के विषयभूत पदार्थ लक्षणा से प्रतिभा भी कहे जा सकते हैं। व्याकरण की भाषा में प्रतिभा अप्रसिद्ध शक्ति से अपने विषय-भूत पदार्थों की भी वाचक है। जयन्त ने भी न्यायमञ्जरी में यह स्वीकार

---

१. उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचक्षणा।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्त्तते ॥ वाक्यपदीय २।१४५

२. विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते ॥ वाक्यपदीय २।४३

३. अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रयाः। वाक्यपदीय २।११८

४. प्रतिभाऽनेकधा पुंसां यद्यप्यर्थेषु जायते।
तथापि बाह्य एवार्थस्तस्य वाक्यस्य चेष्यते ॥
श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण, ३२५

किया है कि यदि वाक्य का प्रयोजन होने के कारण प्रतिभा को वाक्यार्थ माना जाए तो वह अवश्य मान्य हो सकता है।

एक ओर प्रतिभा जहाँ अर्थबुद्धि की नियामक है, दूसरी ओर शब्दप्रयोग भी प्रतिभा के ही अनुसार होता है। अतः प्रतिभा एक आध्यात्मिक तत्त्व है जो शब्द और अर्थ दोनों का ही आधार है। इसे ही दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शब्द और अर्थ दोनों ही प्रतिभा के विषय हैं, परन्तु इनमें से किसी को भी स्पष्ट रूप से प्रतिभा नहीं कहा जा सकता। हाँ, लक्षणा से अर्थ का प्रतिभा में आरोप अवश्य किया जाता है। परन्तु व्यावहारिक स्तर पर अर्थ शब्द के द्वारा अभिव्यक्त होता है और प्रतिभा इन दोनों से ही पृथक् तत्त्व है जो इन दोनों ही का आधार भी है। यद्यपि पुण्यराज ने स्पष्ट रूप से शब्द को स्फोट और अर्थ को प्रतिभा कहा है[1] किन्तु उसका यह विवेचन श्रोता की अर्थग्रहण प्रक्रिया को ही आधार बनाकर प्रवृत्त होता है। वक्ता की उच्चारण प्रक्रिया में भी वक्ता अपनी प्रतिभा के अनुसार ही शब्द चयन करता है और श्रोता अपनी प्रतिभा के द्वारा उससे अर्थग्रहण करता है। वाक्यपदीय की हरिवृत्ति में ही इसे वाक्यप्रतिपाद्य तथा सभी वाक्यों का अधिष्ठान भी कहा गया है। वहीं इसे "निविष्टशब्दशक्तिबीजकारणान्तर्भूता" भी कहा गया है। अत एव समय पाकर वही प्रतिभा वर्णपदवाक्य रूप में विवर्त्त को प्राप्त करती है।[2] इसके पूर्व यास्क ने निरुक्त से ही सृष्टि के विकास-क्रम का विस्तार से उल्लेख किया था कि किस प्रकार प्रतिभा से यह सारा संसार उत्पन्न होता है और प्रलयावस्था में उसी में लीन हो जाता है और प्रतिभा भी प्रकृति अर्थात् मूल प्रकृति शब्दतत्त्व में लीन हो जाती है।[3]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भर्तृहरि के चिन्तन ने प्रतिभावाक्यार्थ का जो प्रासाद खड़ा किया था उसे न्याय और मीमांसा के आचार्यों ने केवल इस शर्त के साथ स्वीकार किया था कि अर्थभावना का आधार होने के कारण ही उसे वाक्यार्थ कहा जाएगा। साहित्यिकों का प्रतिभा चिन्तन भी रसानुभूति इत्यादि प्रश्नों के सन्दर्भ में इसे इसी रूप में स्वयं प्रतिभा नाम से अथवा नामान्तर से इसके महत्त्व को स्वीकार करता रहा है। अन्त में नागेश ने भी इस विवेचन को पुष्टि प्रदान की कि प्रतिभा के विषयभूत बाह्य पदार्थ प्रतिभा का अर्थ हैं। लक्षणा से प्रतिभा में भी वाक्यार्थ का आरोप किया जा सकता है।

---

१. तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाच्यः प्रतिभैव वाक्यार्थः। पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

२. सर्वैवागमिकवाक्यनिबन्धना वाक्यप्रतिपाद्या...निविष्टशब्दशक्तिबीज-कारणान्तर्भूता निबद्धबीजा...प्राप्तवीजपरिपाकाकारा पुनः पुनः व्यक्तेन रूपेण प्रत्यवभासते। हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।१५३

३. अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षण...महानात्मा प्रतिभाम्। प्रतिभा प्रकृतिम्। सा स्वपिति युगसहस्रं रात्रिः। तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तेते स कालस्तदेतदहर्भवति।

निरुक्तम्, अध्याय १३

वैयाकरणप्रयोगसिद्धान्तपरिप्रेक्ष्ये

छात्री छात्रा इति प्रयोगयोः साधुत्वे नागेश-सिद्धान्तः

—श्री मणिनाथ झा

अत्रेदं विचार्यते—

"छात्रा" इति प्रयोगः सम्प्रति प्रायः संस्कृतव्याकरणपण्डितैरपि क्रियते, किन्तु "छात्री" इत्येव प्रयोगः शुद्धः इति मत्वा भाषाशास्त्रमहापण्डितेन सुनीतिकुमारचट्टोपाध्यायेन स्वकीये वंगभाषाव्याकरणे "छात्री" इत्येव प्रयोगः समुल्लिखितः। अतोऽत्र विप्रतिपत्तिवाक्यजन्यः संशयः सुतरां जाग्रते यत् "छात्री" ति प्रयोगः शुद्धः, "छात्रे"ति प्रयोगो वेति।

संशयमिममपाकर्तु प्रचुर-प्रयत्नं कुर्वाणा भट्टोजिदीक्षित-पुरुषोत्तमदेवसीर-देव-नीलकण्ठदीक्षित-हरिभास्कर:शेषाद्रिप्रमुखाः पाणिनीयव्याकरण-व्याख्यातारः कथयन्ति यत् "छात्री" इति प्रयोग एव शुद्धः इति।

कैयटोऽपि "छात्री" इत्येव प्रयोगः शुद्धः, इति मनुते।

नागेशस्तु "छात्री" "छात्रा" इत्युभौ प्रयोगौ शुद्धाविति मन्यते।

तत्र भट्टोजिदीक्षितेन वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां स्त्रीप्रत्यय-प्रकरणे "टिड्ढे"ति सूत्रव्याख्यायाम् "ताच्छीलिकेणेऽपि। "चौरी" इति ग्रन्थेन "चौरी" इति प्रयोगवत् "छात्री" इति प्रयोगः शुद्धः, इत्याकूतम्। यतः "तच्छीलार्थक-णप्रत्यये सति तदन्तादपि ङीप् प्रत्ययो भवती'ति दीक्षितग्रन्थतात्पर्यं स्फुटं विज्ञातं भवति "ताच्छीलिके णेऽपी'ति हि ज्ञापकसिद्धम्। तथाहि—"शील" मित्यनुवृत्तौ "छत्रादिभ्यो णः"[1] इति विहिते णप्रत्ययेऽण् कार्यं भवति, "कार्मस्ताच्छील्ये"[2] इति ज्ञापकात्। "कर्मशीलमस्ये"ति विग्रहे छत्रादित्वाण्ण-प्रत्यये "नस्तद्धिते"[3] इति टिलोपे "कार्मः" इति भवति, न तु "अन्" इति

---

१. अष्टा० ४-४-६२

२. अष्टा० ६-४-१७२

३. अष्टा० ६-४-१४४

सूत्रेण "अण्यन्प्रकृत्या स्या" दित्यर्थकेन प्रकृतिभावः, इति तदर्थः । अत्र अणि विहितस्य प्रकृतिभावस्य णप्रत्यये परतः प्रतिषेधात् "ताच्छीलिके णप्रत्ययेण् कार्यं विज्ञायते । अतस्ताच्छीलिक "ण" प्रत्ययान्तादण् कार्यं ङीप् "टिड्ढे" त्यनेन भवतीति "चौरी'ति प्रयोगः सिद्धः इति दीक्षितग्रन्थस्य निर्गलितोऽर्थः । इत्थं "चौरी"ति प्रयोगवत् "छात्री"ति प्रयोगः शुद्ध इति दीक्षिततात्पर्य-मुन्नीयतेऽस्माभिः ।

दीक्षितोक्तं "कार्मस्ताच्छील्ये" इति निपातनस्य उक्तार्थज्ञापकत्वं पुरुषोत्तमदेव-सीरदेव-नीलकण्ठदीक्षित-हरिभास्कर-शेषाद्रयः स्वीकुर्वन्ति ।[1] इदंप्रधमतया तथ्यमिदं भगवान्पतञ्जलिर्निरचैषीत् । यतस्तेन—"किमर्थमिद-मुच्यते, न "नस्तद्धिते", इत्येव सिद्धम् ? न सिद्ध्यति । अनणीति प्रकृतिभावः प्रसज्येत । अणीत्युच्यते णश्चायम् । एवं तर्हि सिद्धे सति यन्निपातनं करोति, तज् ज्ञापयत्याचार्यस्ताच्छीलिकेणेऽण् कृतानि भवन्तीति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? "चौरी, तापसी"ति, अणन्तादीकारः सिद्धो भवतीत्युक्तम् व्याकरण-महाभाष्ये ।[2]

अतएव प्राचीनैः सर्वैरेव व्याकरणव्याख्याकारैः वामनजयादित्य-जिनेन्द्रबुद्धि-हरदत्तमिश्रप्रमुखैः स्वीकृतं[3] यद् णप्रत्ययेऽपि तच्छीलार्थके परतः अण् कार्यं भवतीति ।

इत्थं "चौरी "तापसी-इत्यादि प्रयोगवत् "छात्री" इत्येव प्रयोगः शुद्ध इति भट्टोजिदीक्षितसिद्धान्तः पाणिनि-पतञ्जलि-वामनजयादित्य-जिनेन्द्र-बुद्धि-हरदत्तमिश्र-पुरुषोत्तमदेव-सीरदेव-हरिभास्कर-शेषाद्रिप्रमुखैः परिपुष्टं भवति । यतः

छत्रं गुरुदोषावरणम्, तच्छीलमस्या इति विग्रहे "क्षत्रादिभ्यो णः" इति छत्रशब्दात् णप्रत्यये "ताच्छीलिके णेऽप्यण्कृतं कार्यं भवतीति परिभाषया "टिड्ढे"ति ङीप्प्रत्ययो दुर्वार एवास्ति ।

---

१. अष्टा० ६-४-१६७

२. "टिड्ढाणञ् अष्टा० ४-१-१४

३. "चुरा शीलमस्याः" इति विग्रहः, छत्रादित्वाण्णः, आदिवृद्धिः, यस्येति च, चौरशब्दात् टिड्ढे ति ङीप्, यस्येति च ।

कैयटस्तु "छत्रादिभ्योऽण्"[1] इति न्यासं स्वीकृत्य "कार्म स्ताच्छील्ये"

---

१. (क) "कार्मस्ताच्छील्ये" (६०४-१७२) इत्यत्र ज्ञापितोह्ययमर्थः। अत्रहि कर्मशब्दात् ताच्छीलिके छत्रादित्वादण्प्रत्यये टिलोपो निपात्यते। तत्रोक्तम्—अणि 'अन्' (६-४-१६७) इति प्रकृतिभावउक्तः। णे तु 'नस्तद्धिते' (६-४-१४४) इति टिलोपः सिद्ध एव। किं निपातेन। तदिदं ज्ञापयति—ताच्छीलिके णेप्यण्कृतंकार्यं भवतीति। णान्तस्यापि प्राप्नोतीतिनिपातनमित्याह पुरुषोत्तमदेवः परिभाषासंग्रहस्थ लघुपरिभाषावृत्तौ पृ०-१४१।

(ख) 'कार्मस्ताच्छील्ये' (६-४-१७२) इत्यत्र ज्ञापितेयम्। तत्र कर्मशब्दात् तच्छीलमित्यनुवर्तमाने छत्रादित्वाण्णप्रत्यये "काम' इति निपात्यते। अत्रोच्यते। 'नस्तद्धिते' (६-४-१४४) इति टिलोपेन कार्म इति सिद्धे टिलोपनिपातनमयुक्तम्। न च 'अन्' (६-४-१६७) इति प्रकृतिभावोऽस्ति, अणितस्य विधानात्। एवं तर्ह्येतज् ज्ञापयति 'अस्तीयं परिभाषेति।' अत्रोच्यते। यदि ताच्छीलिके णेऽप्यण् कृतं कार्यं भवतीति किमर्थं तर्हि ताच्छीलिकेऽप्यण् प्रत्यय एव न विधीयते। एवं च ज्ञापकं कर्तव्यं न भवति। उच्यते। वैचित्र्यार्थं तथा न कृतमिति कथयति सीरदेवः परिभाषासंग्रहस्य बृहत्परिभाषावृत्तौ पृ० २३६

(ग) 'अन्' (६-४-१६७) इति अणि विहितप्रकृतिभावविधानार्थेन 'कार्मस्ताच्छील्ये' (६-४-१७२) इति निपातेन 'ताच्छीलिके णेऽप्यण्कृतं कार्यं भवतीत्येषा परिभाषा ज्ञाप्यते 'इति ब्रूते नीलकण्ठदीक्षितः परिभाषासंग्रहस्य परिभाषावृत्तौ पृ०-३०८।

(घ) 'ज्ञापकं चात्र 'कार्मस्ताच्छील्ये 'इति वचनम्। तद्धि 'अन्' (६-४-१६७) इत्यणि विधीयमानो 'नस्तद्धिते' (६-४-१४४) इति टिलोपनिवर्तकः प्रकृतिभावोमा भूदित्येवमर्थम्। यदि तु 'छत्रादिभ्योऽण् इत्येवोच्येत तदेयं मास्त्विति वदन्तीति निगदति हरिभास्करः परिभाषासंग्रहस्थ परिभाषाभास्करे पृ०-३५५।

(ङ) 'अत्र च ज्ञापकम् 'कार्मस्ताच्छील्ये' ६-४-१७२) इति निपातनम्। तद्धि 'अन्' (६-४-१६७) इति विहितस्यान्प्रकृतिभावस्य बाध-

इति निपातनम् "ताच्छीलिके णेऽप्यण्कृतं कार्यं भवतीति परिभाषाया न ज्ञापकमिति मत्वा अणन्तादेव "छात्री" इत्यत्र छात्रशब्दात् ङीब् भवतीति मन्वानः "छात्री" इत्येव प्रयोगः शुद्धः इति मनुते।[1]

नागेशस्तु[2] "कार्मस्ताच्छील्ये" इति निपातनं ज्ञापकमिति मन्वानः कैयटमतं निरस्य "छात्री" "छात्रा" इत्यनयोः प्रयोगयोः साधुत्वं स्वीकरोति। यतः कैयटमते छत्रादिभ्योऽण् प्रत्ययविधाने "कार्मः" इति निपातनं ज्ञापकं "ताच्छीलिके णेऽप्यण्कृतं कार्यं भवतीति परिभाषाया न स्यात्, तथा सति "छात्रा' इति भूरिप्रचारस्य टावन्तप्रयोगस्य—साधुत्वं गगनकुसुमायितं स्यात्। भगवत्पाणिनिकृतस्य "छत्रादिभ्यो णः[3], इति न्यासस्य स्वीकारे तु "कार्मः[4] इति निपातनं "ताच्छीलिके णेऽप्यण् कृतं कार्यं भवतीति परिभाषां ज्ञापयतीति "छात्रा"ति प्रयोगः णान्तान्ङीपि शुद्धः। "ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्रे" ति परिभाषया ज्ञापकसिद्धस्य पूर्वोक्तपरिभाषारूपार्थस्य असार्वत्रिकतया कदाचिण्णान्तान् ङीपोऽप्राप्त्या अदन्तत्वाच्छात्रशब्दादापि "छात्रे'त्यपि प्रयोगः शुद्ध एवेति नागेशः।

इत्थं नागेशः "छात्री" "छात्रे"त्युभयोः प्रयोगयोः साधुत्वं निरचैषीत्।

अयं च प्रयोगसिद्धान्तो न नागेशस्य स्वोपज्ञः, किन्तु स्वपूर्वाचार्येण सीरदेवेनोक्तस्य 'वैचित्र्यार्थमण्प्रत्यय एवात्र न विधीयते "इत्यभिप्रायकस्य वृहत्परिभाषाग्रन्थस्य[5] परिष्कृतिरेवेत्यहं मन्ये। यतः "कार्मः", इति निपातनेन

नार्थे क्रियते। यदि ताच्छीलिके णेऽण्कृतं कार्यं न स्यात्, तर्हि स्पष्टमेवेति वक्ति शेषाद्रिः परिभाषासंग्रहस्थपरिभाषाभास्करे पृ० १४३-१४४।

१. व्या० म० भा० ६-४-४-१७२।

२. द्र० काशिका, न्यास-पदमञ्जरी ६-४-१७१।

३. अष्टा० ४-४-६२।

४. अष्टा० ४-१-१५।

५. अनेन हि—'एवं च "छत्रादिभ्योऽण्' इति लाघवाय कर्तव्यम्। णवचने प्रयोजनाभावात्। 'प्रज्ञाश्रद्धे'ति 'ज्वलितिकसन्तेभ्यः', इति 'तदस्यां प्रहरण'मिति णवचने ङीबभावः प्रयोजनमित्युक्तं प्रदीपे ६-४-१७२।

पूर्वोक्तपरिभाषाज्ञापनद्वारा "छात्री" त्यस्य, ज्ञापकसिद्धस्यासार्वत्रिकतया "छात्रे" त्यस्य च साधुत्वप्रतिपादनमेव "ण" प्रत्यय-विधाने वैचित्र्यं पश्यामि ।

'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीये'त्यभियुक्तोक्तेर्नागेशसिद्धान्तोऽत्र श्रेयान् ।[1]

वस्तुतः कैयटं विहाय 'कार्मः' इति निपातनस्य ज्ञापकत्वादीनां समेषां वैयाकरणानाँ सिद्धान्ते नागेशसिद्धान्तवत् "छात्री" "छात्रे त्युभयोः साधुत्व-मुचितम् ।

न च नागेशसिद्धान्ते "चौरा" "तापसा" इत्यादीनामपि साधुत्वापत्तिः, तेषां प्रयोगाणामनभिधानात् । अतएव "ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्रे'ति परिभाषां व्याचक्षाणो नागेशः—"स्पष्टमेव पठितव्येऽनुमानाद् बोधनमसार्वत्रिकत्वार्थ-मित्यर्थः, तेन "ज्ञापकसिद्धपरिभाषयाऽनिष्टं नापादनीयमिति तात्पर्य[2] मित्याह परिभाषेन्दुशेखरे ।

न च "तस्यां प्रहरण[3]" मिति णप्रत्यये "दण्डा"[4] इत्यत्रापि णेऽण् कार्यश्य "टिड्ढे"[5]ति ङीपः आपत्तिः शङ्क्या । यतस्ताच्छीलिके णे प्रत्यये एव हि अण्कार्यं परिभाषा बोधयति ।

कश्चित्तु "अजाद्यतष्टाप्" बित्यत्र अजादिगणस्य[6] आकृतिगणतया तत्र छात्रशब्दपाठं स्वीकृत्य 'छात्रे' त्येव प्रयोगः शुद्ध इति कथयति । नैतद्युक्तम् ।

अनेन हि='एवं चेति । ज्ञापकसिद्धस्यासार्वत्रिकत्वाच्छात्रेति सिद्धय-तीति चिन्त्यमिदमित्यन्ये 'इत्युक्तम् उद्योते ६-४-४-१७२ ।

१. परिभाषेन्दुशेखरे—'कार्मस्ताच्छील्ये इति निपातनमस्या ज्ञापक मित्युक्तम् पृ० ३२३ परि० ८८ ।

२. परि० १२५ परि० शे० पृ० ३३१ ।

३. अष्टा० 'तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः ४-२-५७ ।

४. 'दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडाया' मित्यर्थः ।

५. 'टिड्ढाणञ्' अष्टा० ४-१-१२

६. अष्टा० ४-१-४

यतः 'कार्मस्ताच्छील्ये[1] इति सूत्रे भाष्ये ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्तीति ज्ञापनफलं चौरी तापसीत्यादिसिद्धिरिति यदुक्तं[2] तद्विरुध्येत। अत एव नाटकेषु "तापसी" इत्येव प्रयोगो दरीदृश्यते, न तु "तापसा" इत्यस्यापि प्रयोगः। अजादेराकृतिगणत्वेन तत्रच्छात्रशब्दवत् तापसशब्दस्यापि पाठो हि कल्पयितुं शक्यः, इत्यलम्।

१. अष्टा० ६-४-१७२

२. 'तपः शीलमस्या इति विग्रहे 'छत्रादिभ्यो णः' अष्टा ४-४-६२ इति णः।

काशिकाकार का भाषाविषयक योगदान

—डा० रघुवीर वेदालंकार

प्राचीन भारतीय आचार्यों का भाषा के सम्बन्ध में क्या योगदान है ? व्याकरण के परिप्रेक्ष्य में इस बात पर विचार करते हुए हमारे सामने यह स्पष्ट रहना चाहिए कि व्याकरण का क्षेत्र क्या है तथा भाष्य सम्बन्धी किस प्रश्न का समाधान व्याकरण करता है । भाषा पर विचार करते समय हमें यह भी विचार करना होता है कि भाषा का जन्म किस प्रकार हुआ तथा भाषा में जन्म के पश्चात् क्या क्या परिवर्त्तन हुए तथा उन परिवर्तनों के कारण क्या हैं । इस प्रकार के प्रश्न भाषाविज्ञान के अन्तर्गत आते हैं, व्याकरण की सीमा में नहीं । व्याकरण की तो यात्रा ही तब से प्रारम्भ होती है जब भाषा जन्म ले चुकी है तथा उसका व्यवहार हो रहा है । भाषा की उत्पत्ति किसी भी प्रकार हुई हो, व्याकरण इस पर विचार नहीं करता । वह तो उत्पन्न भाषा के ही नाम आख्यात आदि चार भेदों की चर्चा करता है तथा इनकी साधुता असाधुता पर विचार करता है ।

इसी प्रकार शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का क्षेत्र भी एक दृष्टि से व्याकरण की परिधि में नहीं आता । व्याकरण यह मानकर चलता है कि शब्द नित्य है तथा उसमें कोई न कोई अर्थ निश्चित रूप से निहित है । वह अर्थ उस शब्द में कहाँ से आया तथा वह अर्थ उसी शब्द के साथ संयुक्त क्यों हो गया, इत्यादि प्रश्न भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखते हैं । एक ही शब्द विभिन्न अर्थों में कैसे संयुक्त हो गया, शब्द के अर्थों में परिवर्तन कैसे हुआ, इत्यादि प्रश्न अर्थ विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं जो भाषा विज्ञान के ही अन्तर्गत है । व्याकरण तो केवल इतना कहता है कि शब्द अर्थ तथा इन दोनों का सम्बन्ध, ये तीनों नित्य हैं । भले ही शब्द का कोई भी अर्थ स्थिर रहे या उसमें परिवर्तन होता रहे, व्याकरण इस बात पर विचार नहीं करता । प्रस्तुत निबन्ध में यह बतलाने का यत्न किया गया है कि काशिकाकार ने

शब्द, अर्थ एवं इनके सम्बन्ध के विषय में व्याकरण की दृष्टि से क्या विचार किया है। अथवा अपना योगदान किस प्रकार दिया है।

वैयाकरणों की मान्यता है कि शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। नित्य शब्द में कोई न कोई नित्य अर्थ अवश्य रहता है। काशिकाकार[1] इसी धारणा का अनुगमन करते हुए लिखते हैं कि शब्द एवं अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध है। उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता? यद्यपि यह काशिकाकार का मौलिक विचार नहीं है क्योंकि पाणिनीय सूत्र को स्पष्ट करते हुए ही उन्होंने शब्दार्थ सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। इतना होने पर यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस सम्बन्ध में काशिकाकार के विचार पाणिनि के अनुकूल एवं उनके पोषक हैं। पतञ्जलि आदि ने भी इसी प्रकार के विचारों को नबीन उद्भावनाओं के साथ पल्लवित किया है।

व्याकरण मुख्यतः शब्दों की रूप रचना से सम्बन्ध रखता है। प्रचलित भाषा में उपलब्ध शब्दों का साधुत्व दिखलाना व्याकरण का मुख्य प्रयोजन है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के द्वारा यह कार्य किया है तो कात्यायन ने वार्त्तिकों के द्वारा इसमें योगदान दिया है। भाष्यकार ने भाष्य में अपने स्वतन्त्र चिन्तन के साथ साथ इस दिशा में यत्न किया है। काशिका एक वृत्ति ग्रन्थ है। यह न तो अष्टाध्यायी के समान मौलिक व्याकरण है तथा न महाभाष्य के समान विविध ऊहापोह से युक्त विस्तृत भाष्य है। पाणिनि के सूत्रों का अनुसरण एवं उनकी व्याख्या काशिकाकार की सीमा रही है किन्तु इसके साथ ही अनेक स्थानों में उनका स्वतन्त्र चिन्तन भी परिलक्षित होता है।

काशिकाकार के स्वतन्त्र चिन्तन को इस प्रकार देखा जा सकता है कि जहाँ पर पाणिनि ने किसी शब्द की रूपरचना का विधान किसी अन्य प्रकार से किया है किन्तु यदि वह लोकसमर्थित नहीं है अथवा पाणिनि के परवर्त्ती काल में उसका कोई अन्य रूप लोकप्रचलित हो गया तो काशिकाकार उसी लोकप्रचलित रूप के साधुत्व का यत्न करते हैं। इसके साथ ही साथ

---

१. काशिका १.२.५६

शब्दैरर्थाभिधानं स्वाभाविकं, न पारिभाषिकमशक्यत्वात्। लोकत एवार्थावगतेः।

काशिकाकार अनेक स्थानों पर शब्दों के ऐसे नवीन अर्थ की उद्भावना करते हैं जिनका संकेत उनके पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने नहीं किया है। काशिकाकार की इस प्रकार की उद्भावनाओं को देखा जाए तो उनका यह कार्य भाषा विज्ञान के अन्तर्गत रूपपरिवर्तन एवं अर्थपरिवर्तन से सम्बन्ध रखता है। निम्न उदाहरणों से इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

१. व्याकरण का नियम है कि शैषिक प्रत्ययान्त, मतुवर्थीय प्रत्ययान्त तथा सन् प्रत्ययान्त शब्द से पुनः इन अर्थों में तत् तत्प्रत्यय नहीं होते।[1] किन्तु यजुर्वेद में 'श्रेष्ठतमाय' रूप प्रयुक्त है।[2] इसके लिए कात्यायन ने 'तदन्ताच्च स्वार्थे छन्दसि दर्शनं श्रेष्ठतमाय इति' वार्त्तिक बनाया है किन्तु इस प्रकार लोक में प्रयुक्त श्रेष्ठतमाय रूप असमाधित ही रह जाता है। महाभारत[3] तथा अन्य काव्य ग्रन्थों[4] में श्रेष्ठतमाम् रूप प्रयुक्त है। काशिकाकार[5] ने लोक तथा वेद दोनों के लिए ही श्रेष्ठतम रूप को साधु माना है। वस्तुतः कोई भी भाषा व्याकरण से पूर्ण निगडित होकर नहीं चल सकती इसीलिए व्याकरण से असम्मत श्रेष्ठतम रूप भी प्रचलित रहा जिसको काशिकाकार ने व्याकरण सम्मत बनाने का यत्न किया। हिन्दी भाषा में तो श्रेष्ठतम शब्द का प्रचुर प्रयोग होता है।

२. पाणिनि ने अस्मदो द्वयोश्च १.२.५९ सूत्र द्वारा 'अस्मद्' के साथ एक वचन तथा द्विवचन के स्थान पर विकल्प से बहुवचन का विधान किया है। किन्तु लोक भाषा में युष्मद् के साथ भी एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग होता है। इसी कारण से हिन्दी भाषा में 'तू' का स्थान 'तुम'

---

१. भाष्य ३.१.७
शैषिकान्मतुवर्थीयाच्छैषिक्ये मतुवर्थकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सन्निष्यते॥

२. यजुर्वेद
देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।

३. महाभारत १.६८.४०
अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।

४. युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्।

५. काशिका ५.२.५५
यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपरः प्रत्ययो भवत्येव।

ग्रहण करता जा रहा है। इसका कारण शायद यह है कि 'तू' के द्वारा कुछ अनादर द्योतित होता है। काशिकाकार ने यहाँ पर 'युष्मदि गुरौ एकेषाम्' कार्त्तिक द्वारा युष्मद् के साथ भी विकल्प से बहुवचन का विधान किया है।

४. इसी प्रकार दशरथ शब्द से अपत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय होकर दाशरथि रूप बनना चाहिए किन्तु रामायण में दाशरथाय प्रयोग प्राप्त होता है।[1] काशिकाकार ने इसका समाधान दिया है कि यहाँ पर शेष की विवक्षा में 'अण्' होगा 'इञ्' नहीं। इससे इष्ट रूप सिद्ध हो जायेगा।

५. ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् १.१.११ सूत्र पर भी काशिकाकार ने ऐसा ही यत्न किया है। इस सूत्र द्वारा ईकारान्त ऊकारान्त तथा एकारान्त द्विवचनान्त शब्दों की प्रगृह्य संज्ञा होती है किन्तु इस प्रकार मणीव[2] दम्पतीव[3] जम्पतीव तथा रोदसीव प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि यहाँ भी प्रगृह्य संज्ञा न होकर सन्धि हो रही है। कात्यायन तथा पतञ्जलि आदि किसी भी वैयाकरण ने इस पर विचार नहीं किया है। काशिकाकार ने इसके लिए एक वार्त्तिक[4] प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार यहाँ पर प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती।

उपर्युक्त सभी उदाहरण रूपरचना की दृष्टि से दिये हैं जहाँ कि काशिकाकार ने अष्टाध्यायी से असम्मत होने पर भी लोकप्रचलित रूपों का साधुत्व प्रतिपादित किया है। व्याकरण का प्रयोजन भी तो यही है कि वह इष्ट रूपों की सिद्धि कर सके। कैयट इसीलिए कहते हैं—शास्त्रेष्ट-सिद्ध्यर्थत्वात् (भा० ७.१.८२) अर्थात् शास्त्र इष्ट रूपों की सिद्धि के लिए ही है इतना ही नहीं पतञ्जलि तो यहाँ तक भी कहते हैं कि यदि लोक किसी अन्य रूप को मान्यता देता है तो व्याकरण सम्मत रूप का परित्याग कर देना चाहिए। इसीलिए एक स्थान पर 'प्राजिता' के प्रयोग का परामर्श सूत के माध्यम से दिया है।[5] काशिकाकार इसी 'प्राजिता' रूप को व्याकरण सम्मत बताने का प्रयास करते हैं इसी लिए उन्होंने 'वलादावार्द्धधातुके विकल्प इष्यते' वार्त्तिक बनाया है। भाष्य में यह वार्त्तिक नहीं है।

---

१. बा० रा० प्र० का० ६।२२ प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली।
२. महाभारत १२.१७२.२ मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
३. ऋग्वेद १.३९.९ मेनेइव तन्वा शुम्भमाने दम्पतीव क्रतुविदा जनेषु।
४. काशिका १.१.१. ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः
५. भाष्य २.४.५६
प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियो न त्विष्टिज्ञः। इष्यत एतद् रूपम्।

भाषा में प्रयुक्त शब्दों की रूप रचना के विषय में अपना योगदान देने के साथ साथ शब्दों के अर्थ की दृष्टि से भी काशिकाकार ने मौलिक चिन्तन किया है। व्याकरण शब्द तथा अर्थ में एक स्थिर सम्बन्ध मानकर चलता हैं। इस सम्बन्ध में पतञ्जलि कहते हैं—नित्यो हि अर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः (भाष्य २.१.१) इसके अनुसार ही काशिकाकार ने लिखा है—शब्दैरर्थाभिधानं स्वाभाविकं न पारिभाषिकमशक्यत्वात्। लोकत एवार्थावगतेः (काशिका १.२.५६) यहाँ पर काशिकाकार ने अर्थ के विषय में लोक को ही प्रमाण माना है। इसीलिए उन्होंने शब्दों के उन्हीं अर्थों को मान्यता प्रदान की है जो उस समय लोक प्रचलित थे। भले ही भाष्यकार आदि पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के समय उन शब्दों का वह अर्थ न था उदाहरणार्थ —

१: भाष्यकार[1] ने खट्वारूढ' पद का अर्थ किया है कि समावर्त्तन संस्कार से पूर्व ही अपने ब्रह्मचर्यव्रत को भंग करने वाले छात्र खट्वारूढ कहलाते हैं। किन्तु काशिकाकार के अनुसार खट्वारोहण से किसी भी प्रकार का कुमार्गगमन उपलक्षित है तथा सभी कुमार्गगामियों को खट्वारूढ कहा जाता है।[2] यह एक प्रकार का अर्थ विस्तार है जो भाषा विज्ञान के अनुसार परिवर्तन के कारणों में से एक कारण है। यथा 'तैल' शब्द का तिल मात्र से सम्बन्ध हट कर वह किसी भी प्रकार के तेल का वाचक बन गया। काशिकाकार ने 'खट्वारूढ' पद के इसी अर्थविस्तार की ओर संकेत किया है। इससे स्पष्ट है कि यह शब्द भाष्यकार के समय से काशिकाकार के समय तक आते आते इस अर्थ विस्तार को धारण कर चुका था।

२. इसी प्रकार भाष्यकार के समय गुरु तथा शिष्य दोनों को ही छात्र कहा जाता था। भाष्यकार के अनुसार शिष्य का छत्रवत् छादन करने के कारण गुरु भी छात्र है।[3] यहाँ पर कैयट ने छादन करने का अर्थ शिष्य के

---

१. भाष्य २.१.२.६
अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वाऽऽरोढव्या। य इदानीमन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढो जाल्मः। नातिव्रतवानिति।

२. काशिका २.१.२६ खट्वारोहणं चेह विमार्गप्रस्थानस्योपलक्षणम्। सर्व एवाविनीतः खट्वारूढ उच्यते।

३. भाष्य ४.४.६२
छत्रमिव छत्रम्। गुरुश्छत्रम्। गुरुणा शिष्याश्छत्रवच्छाद्याः, शिष्येण च गुरुश्छत्रवत् परिपाल्यः।

अज्ञान को दूर करना कहा है।[1] काशिकाकार के समय केवल शिष्यों को ही छात्र कहा जाता था। इतना ही नहीं अपितु उस समय तक 'छात्र' पद का अर्थ भी बदल चुका था। काशिकाकार के अनुसार गुरु के दोषों को ढकने के कारण शिष्यों को छात्र कहा जाता है।[2] स्पष्ट है कि भाष्यकार के समय से आते आते काशिकाकार के समय तक 'छात्र' शब्द का अर्थ सीमित हो चुका था। भाषा विज्ञान के अनुसार अर्थसंकोच भी अर्थपरिवर्तन के कारणों में से एक है। यथा मृग शब्द पहले पशुमात्र का वाचक था किन्तु बाद में केवल हिरण के अर्थ में सीमित हो गया। जैसे ईश्वर शब्द भी प्रत्येक ऐश्वर्यशाली का वाचक न रहकर केवल परमात्मा का वाचक बन गया।

इस प्रकार काशिकाकार ने अर्थपरिवर्तन की दोनों दिशाएं—अर्थविस्तार तथा अर्थ संकोच का अप्रत्यक्ष रूप से संकेत कर दिया है।

इस प्रकार कहीं पर पूर्व वैयाकरणों के आश्रय से तथा कहीं पर स्वतन्त्र चिन्तन करके शब्दों की रूप रचना एवं अर्थ की दृष्टि से काशिकाकार ने भाषाविद् ज्ञान को योगदान दिया है।

---

१. ४.४.६२ सूत्र पर प्रदीप
अज्ञानं शिष्यस्य छादयति निवर्तयति यतस्तत् छत्रं शीलमस्य।

२. काशिका ४.४.६२
छादनावरणाच्छत्रम् गुरुकार्येष्ववहितस्तच्छिद्रावरणप्रवृत्तः छत्रशीलः शिष्यः छात्रः।

संस्कृत भाषा और व्याकरण को भट्टोजि दीक्षित का योगदान

—डॉ. सूर्यकान्त बाली

आचार्य भट्टोजि दीक्षित संस्कृत व्याकरण परम्परा में जितने अधिक महत्त्वपूर्ण वैयाकरण के रूप में उभर कर सामने आते हैं उतने ही अधिक वे एक विवादास्पद वैयाकरण भी हैं। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, भर्तृहरि, वामन-जयादित्य, कैयट सदृश महान् संस्कृत भाषाविदों की पंक्ति में भट्टोजि दीक्षित का नाम ग्रहण किया जाता है, जो इस वैयाकरण के महत्व का स्पष्ट प्रतिपादन करता है। संस्कृत व्याकरण की परम्परा में यह नाम लगभग अन्तिम महत्वपूर्ण नाम है; भट्टोजि के उपरान्त नागेश भट्ट ही एक ऐसा नाम है जो इस वैयाकरण-पंक्ति में महत्व का स्थान प्राप्त करता है। परन्तु अपने विख्यात ग्रन्थ वैयाकरण-सिद्धांत कौमुदी के कारण भट्टोजि को जितना अधिक विवादास्पद, जीवनकाल में भी और तदुपरान्त भी, होना पड़ा वह अपने आप में एक अभूतपूर्व स्थिति है। संस्कृत भाषा और व्याकरण को भट्टोजि दीक्षित का योगदान विशिष्ट और स्पष्ट है और यही इस निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य है।

भट्टोजि दीक्षित के सम्बन्ध में कुछ निश्चित परिचयात्मक सामग्री प्राप्त होती है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि भट्टोजि अपेक्षाकृत अर्वाचीन वैयाकरण है। आज से लगभग चार शताब्दी पूर्व इस वैयाकरण का अभ्युदय हुआ था। भट्टोजि दीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ के मध्य उभरे कटु सम्बन्धों के परिणामस्वरूप भट्टोजि के तिथि निर्धारण में पर्याप्त सफलता प्राप्त हो जाती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने समवर्ती राजाओं में से जहांगीर (१६०५-१६२७ ई०), उसके पुत्र शाहजहां (१६२८-१६५८ ई०), नवाब आसिफ़ खान (मृत्यु १६४१ ई०), उदयपुर के जगतसिंह (१६२९-१६५९ ई.) तथा कामरूप के प्राण नारायण (१६३३-१६६६ ई.) का विभिन्न स्थानों पर उल्लेख किया है। शाहजहां के तो ये दरबारी, पण्डित एवं कवि थे, ऐसा पण्डितराज के विषय में माना जाता है। इन्हीं सब उल्लेखों

के आधार पर काणे (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, पृ. ३१२) ने पण्डितराज जगन्नाथ का काल १६२०-१६६० ई. के आस-पास माना है। पण्डितराज ने शेख श्रीकृष्ण के सुपुत्र शेख वीरेश्वर को अपना गुरु माना है ("अस्मद् गुरु शेख वीरेश्वर तनयैः"—मनोरमा कुचमर्दिनी, प्रारम्भ भाग)। दूसरी ओर भट्टोजि दीक्षित ने शेख श्रीकृष्ण को अपना गुरु कहा है ("निर्विशेखमहं शेखात्। शेखकृष्णं गुरुं भजे। यो मामशेखाः शेखोक्तीः। विशिष्यैवाध्य-जीगपत्"। – कौस्तुभा मंगल श्लोक)। इस आधार पर यह कहना उचित ही है कि भट्टोजि दीक्षित शेख वीरेश्वर (गुरुपुत्र) के समकालिक हैं और पण्डित-राज (गुरुपुत्र शिष्य) से एक पीढ़ी पूर्ववर्ती हैं। यह गणना भट्टोजि के अभ्युदय-काल को सोलहवीं सदी ई० के अन्तिम चरण में रखती है।

भट्टोजि दीक्षित का जन्म महाराष्ट्र में सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज किसी वैष्णव देवस्थान में पुजारी थे जिससे उन्हें 'दीक्षित' यह उपाधि प्राप्त थी। परन्तु भट्टोजि भट्ट ब्राह्मण थे। एक स्थान पर भट्टोजि ने स्वयं के बारे में ऐसा कहा भी है—"भट्टोजि भट्टोजनुखः साफल्यं लब्धु-मीहते" (कौस्तुभ, मंगल श्लोक)। अपने जीवन के प्रारम्भ में ही भट्टोजि व्याकरण के अध्ययन के लिए काशी चले गए थे और आजीवन वहीं रहे। इन्होंने अपय्य दीक्षित से धर्मशास्त्र और शेख श्रीकृष्ण से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया। भट्टोजि के भाई रंजोनिभट्ट, पुत्र भानुजी दीक्षित और वीरेश्वर दीक्षित, पौत्र हरिदीक्षित तथा भ्रातृपुत्र कौण्डभट्ट – ये सभी नाम संस्कृत व्याकरण और कोश की परम्परा में ज्ञात एवं विख्यात नाम हैं। भट्टोजि के बारे में एक किंवदती है कि अपने व्याकरण ज्ञान को किसी योग्य शिष्य तक न पहुंचा पाने के कारण ये मृत्यु के उपरान्त ब्रह्मराक्षस हो गए थे।

यद्यपि भट्टोजि की ख्याति केवल वैयाकरण के रूप में है, तथापि यह एक आश्चर्य का विषय है व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके छोटे-बड़े ३२ ग्रन्थों के नाम प्राप्त होते हैं और उनमें से कुछ ग्रन्थ तो प्रकाशित भी हैं। इनका सम्बन्ध विभिन्न विषयों से है, पर प्रमुख रूप से ये ग्रन्थ गृह्यसूत्रों के विषयों पर है। इन व्याकरणेतर ग्रन्थों में से कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—आचारदीप, आशौचनिर्णय, गोत्रप्रवर निर्णय, चन्दनधारणविधि, तत्त्वकौस्तुभ, श्राद्धकाण्ड, सर्वसार संग्रह, इत्यादि। इनमें से भी सत्त्वकौस्तुभ को सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली है। ये ग्रन्थ मौलिकता से दूर, मुख्यतः संग्रहग्रन्थ

या टीकाग्रन्थ हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों की रचना इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर की गई होगी।

भट्टोजि दीक्षित के चार व्याकरण ग्रन्थ इस समय प्राप्त होते हैं—१. शब्दकौस्तुभ, २. वैयाकरणसिद्धान्तकारिका, ३. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी और ४. प्रौढ़ मनोरमा। ये ग्रन्थ सम्भवतः इसी क्रम से लिखे गए थे। प्रारम्भ में विद्वानों में इनके व्याकरण ग्रन्थों की निश्चित संख्या के बारे में पर्याप्त मतभेद रहा था। यही स्थिति इन ग्रन्थों के नामों के बारे में भी थी। पण्डित शिवदत्त ने स्वयं द्वारा सम्पादित वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (मुम्बई, १९३२ भूमिका पृ. ३०) में भट्टोजि के केवल तीन ग्रन्थों की चर्चा की है—१. सिद्धान्तकौमुदी, २. शब्दकौस्तुभ और ३. मनोरमासिद्धान्तकौमुदीव्याख्या। स्पष्ट है कि ग्रन्थों के नाम लोकप्रियता के आधार पर ही दिए गए हैं। इनमें कारिका-ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने (संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ. ४४७) में इन्हीं तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है तथा तीसरे ग्रन्थ का सही नाम प्रौढमनोरमा दिया है। परन्तु अपने इसी इतिहास ग्रन्थ के भाग २, (पृ. ३६३) में कारिका ग्रन्थ का भी उल्लेख कर दिया है। आफ्रेख्त ने केटेलोगस केटेलोगोरम में भट्टोजि के द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या छह मानी है—१. सिद्धान्तकौमुदी, २. शब्द-कौस्तुभ, ३. प्रौढ़मनोरमा, ४. धातुपाठ, ५. बालमनोरमा, ६. लिङ्गानुशा-सनवृत्ति। वस्तुतः आफ्रेख्त को भट्टोजि के व्याकरण ग्रन्थों की कुल संख्या के बारे में भ्रान्ति हो गई है, ऐसा प्रतीत होता है। भट्टोजि द्वारा लिखा कोई धातुपाठ इस समय उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः सिद्धान्तकौमुदी के तिङन्तप्रकरण में पाणिनीय धातुपाठ को भट्टोजि ने अर्थनिर्धारण और पाठान्तरों सहित प्रस्तुत किया है इसीलिए सम्भवतः उसका महत्व बढ़ गया होगा और आफ्रेख्त ने उसे पृथक् ग्रन्थ मान लिया होगा। त्रिमुनि-व्याकरण के प्रतिबद्ध समर्थक भट्टोजि द्वारा पाणिनीय धातुपाठ से अतिरिक्त किसी अन्य धातुपाठ की रचना की गई होगी—ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती। यही धारणा लिंगानुशासन वृत्ति के बारे में भी व्यक्त की जा सकती है कि यह एक स्वतन्त्र वृत्तिग्रन्थ न होकर सिद्धान्तकौमुदी का अंग ही है। पाणिनीय व्याकरण पंचांग व्याकरण है जिसमें पांच पाठ हैं—सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादि पाठ, लिंगानुशासनपाठ। भट्टोजि की सिद्धांत-कौमुदी में इन पांचों पाठों का पृथक्-पृथक् या एकत्र समावेश है। लिंगानु-शासनपाठ पर वृत्ति कौमुदी के अन्त में जोड़ दी गई है। बालमनोरमा के

सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इस समय यह ग्रन्थ भट्टोजि द्वारा लिखित इस रूप में कहीं प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत सिद्धांतकौमुदी पर बासुदेव वाजपेयी द्वारा लिखित बालमनोरमा टीका उपलब्ध है और पर्याप्त लोकप्रिय है। यह मनोरम कल्पना अवश्य की जा सकती है कि अपने ही ग्रन्थ सिद्धांतकौमुदी पर भट्टोजि ने दो टीकायें लिखी हों—१. कालमनोरमा (विद्यार्थियों के लिए) तथा २. प्रौढमनोरमा (प्रौढ विद्वानों के लिए)। इनमें से प्रौढमनोरमा तो उपलब्ध है, परन्तु बालमनोरमा उपलब्ध नहीं है। किन्तु इस मनोरम कल्पना को सिद्ध करने के लिए बाह्य या आन्तरिक कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है।

जहाँ तक ग्रंथों के रचना-क्रम का प्रश्न है, ऐसा निस्सन्देह कहा जा सकता है कि भट्टोजि के चार व्याकरण ग्रन्थ इस ग्रन्थ में लिखे गए थे—शब्द कौस्तुभ, वैयाकरण-सिद्धांत व्याख्या, वैयाकरणसिद्धांतकौमुदी और प्रौढ-मनोरमा। उस समय की परम्परा के अनुसार भट्टोजि ने अष्टाध्यायी की व्याख्या लिखने की इच्छा से कौस्तुभ की रचना प्रारम्भ की तथा महाभाष्य की शैली का अनुसरण करते हुए यत्र-तत्र भाषाई विचार उसमें अनुस्युत करने का प्रयास किया। फिर उन्हीं भाषाई विचारों को अर्थात् संस्कृत व्याकरणदर्शन को भट्टोजि ने कारिकाबद्ध कर दिया। परन्तु शैली एवं प्रस्तुतीकरण में मौलिकता दिखाने के लिए तथा अष्टाध्यायी की प्रासंगिकता प्रतिष्ठित करने के लिए भट्टोजि ने अत्यधिक प्रौढ एवं चमत्कारी ग्रन्थ के रूप में वैयाकरणसिद्धांतकौमुदी की रचना की तथा इसी ग्रन्थ पर स्वयं ही प्रौढमनोरमा के रूप में स्वोपज्ञटीका की रचना की। इस प्रकार भट्टोजि दीक्षित का संस्कृत भाषा और व्याकरण को योगदान इन चार विशिष्ट ग्रंथों में प्रतिभासित होता है जिसके विश्लेषणात्मक अध्ययन की यहां अपेक्षा है।

प्रक्रियाकार के रूप में आचार्य भट्टोजिदीक्षित की ख्याति और प्रतिष्ठा इतनी अधिक है कि प्रायः उनके वृत्तिकार रूप की उपेक्षा कर दी जाती है। जैसा कि हमने अभी ऊपर के पृष्ठों में बताया है, भट्टोजि का प्रथम व्याकरण ग्रन्थ शब्दकौस्तुभ के रूप में हमारे सामने आता है जो एक वृत्ति ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना के पीछे पतञ्जलि के महाभाष्य का प्रभाव ग्रन्थ के नाम और ग्रन्थ के मंगल श्लोकों से ज्ञात होता है। मंगलाचरण में ग्रन्थकार ने कहा है—"फणिभाषितव्याख्याब्धेः शब्दकौस्तुभमुद्धरे।" इसके अतिरिक्त भर्तृहरि आदि को प्रणाम करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है—

"नमस्कुर्वे जगद्वन्द्यं पाणिन्यादिमुनित्रयम् । श्री भर्तृहरि मुख्यांश्च सिद्धान्त-स्थापकान् बुधान् ।" महाभाष्यरूपी व्याकरणसमुद्र से उद्धृत कौस्तुभम-मणिरूप शब्द कौस्तुभ ग्रन्थ में प्रारम्भ से ही पतंजलि की शैली पर वृत्ति लिखने का प्रयास है । निपातार्थ, व्याकरण प्रयोजन, शब्द का स्वरूप, शब्द का साधुरूप आदि विषयों पर प्रथम आधुनिक लिखने के बाद महाभाष्य शैली में ही वृत्ति का भी प्रारम्भ किया है । 'भर्तृहरि आदि सिद्धान्तस्थापक बुधों को प्रणाम' करने के माध्यम से ग्रन्थकार ने यह बताना चाहा है कि इस ग्रंथ में वृत्ति के साथ-साथ व्याकरण दर्शन सम्बन्धी विचारों का भी यत्र तत्र समावेश है । परन्तु ग्रंथ के निष्पक्ष विश्लेषण के आधार पर यह कहना कठिन नहीं है कि इस ग्रंथ के माध्यम से भट्टोजि कुछ विशेष नवीन नहीं दे पाए हैं । पतंजलि और भर्तृहरि को आधार मानकर भट्टोजि जिस प्रकार का प्रौढ़ दार्शनिक ग्रंथ और वृत्ति ग्रंथ शब्द कौस्तुभ के रूप में लिख सकते थे, उतनी प्रौढ़ि के दर्शन हमें यहां नहीं होते । इस ग्रंथ में महाभाष्य की स्थापनाओं की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयास बार-बार किया गया है । यह एक प्रकार का संग्रह ग्रंथ बनकर रह गया है । तथापि पूरेग्रन्थ में भट्टोजि ने दार्शनिक विचारों का विवेचन जिस शैली में किया गया है, वह नितान्त मौलिक है । उस पर हम आगे विचार करेंगे ।

शब्द कौस्तुभ सम्पूर्ण रूप से इस समय उपलब्ध नहीं होता । सम्भवतः इसमें अष्टाध्यायी के सभी आठ अध्यायों पर वृत्ति थी, इस समय इसके प्रथम दो अध्याय, तृतीय के प्रथम दो पाद तथा चतुर्थ अध्याय ही प्राप्त होते हैं, शेष अनुपलब्ध हैं । ऐसी किंवदन्ती है कि भट्टोजि की लोकप्रियता से क्षुब्ध कुछ पण्डितों ने इनके इस ग्रन्थ को नष्ट कर दिया जिसका कुछ अंश भट्टोजि ने अपने स्मृतिबल से पुनः लिख दिया । परन्तु इसी ग्रन्थ में यत्र तत्र व्याप्त व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी विचारों को भट्टोजि ने ६७ कारिकाओं के रूप में उपनिबद्ध कर दिया । ये कारिकाएं 'वैयाकरण-सिद्धान्त-कारिका' के रूप में ख्यात हैं जिन्हें हमने अन्यत्र (भट्टोजिदीक्षित हिज कन्ट्रीब्यूशन टु संस्कृत ग्रामर, दिल्ली, १९७९) 'वैयाकरणभूषणकारिका' कहा है । इन कारिकाओं में केवल व्याकरणदर्शन का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने धात्वर्थ, नामार्थ, सुउर्थ, कारकार्थ, समासार्थ, शब्द शक्ति, स्फोट आदि अनेक प्रौढ़ विषयों को अत्यन्त प्रौढ़क शैली में प्रस्तुत किया है । नैयायिकों और मीमांसकों का खण्डन करते हुए इन कारिकाओं में व्याकरण-सम्मत सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की गई है । ये कारिकाएं अभी तक स्वतन्त्र ग्रन्थ के

रूप में प्रकाशित नहीं हुई है। कौण्डभट्ट द्वारा लिखित बृहद् वैयाकरण भूषण और इन पर टीका भी वहां की गई है। कोण्डभट्ट ने इन ६७ कारिकाओं के साथ लगभग पाँच कारिकाएं वाक्यपदीय से भी उद्धृत कर ७२ कारिकाओं को आधार बनाया है और ग्रन्थरचना की है।

इन चारों व्याकरणग्रन्थों में से जिस ग्रन्थ के साथ वैयाकरण भट्टोजि की प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि एकाकार हो गई है वह ग्रन्थ है-वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी। जैसा कि ग्रंथ के नाम से ही स्पष्ट है इसमें विभिन्न वैयाकरणों के मतों की उपस्थापना त्रिमुनिव्याकरण की प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में ही की गई है। यह विशेष आश्चर्य का विषय है कि यद्यपि सिद्धान्तकौमुदी विभिन्न वैयाकरणों के मतों का यत्र तत्र संग्रह करते हुए अष्टाध्यायी पर प्रक्रिया शैली में वृत्ति प्रस्तुत करने वाला विशाल ग्रन्थ है, तथापि संस्कृत पठन-पाठन में इस व्याकरण ग्रन्थ का प्रभाव इस सीमा तक बढ़ गया कि इसने अष्टाध्यायी को ही लगभग स्थानापन्न कर दिया। यही कारण था कि परवर्ती काल में अष्टाध्यायी के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा को पुनरुज्जीवित करने के विशेष प्रयास किए गए। इस प्रयास-परम्परा में सिद्धान्त कौमुदी की भर्त्सना को भी माध्यम बना दिया गया जो विचित्र प्रतीत होता है। अष्टाध्यायी के इस प्रकार के पुनरुज्जीवन प्रयासों में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायियों के नाम विशेष रूप से उल्लेख के योग्य हैं। वास्तव में, जैसा कि हम अनुपद ही देखेंगे,,—संस्कृत भाषा और व्याकरण को सिद्धान्त कौमुदी के रूप में भट्टोजि दीक्षित का योगदान अपूर्व है। यह एक प्रक्रिया ग्रन्थ है जिसमें पाणिनि के सूत्रों को प्रक्रिया क्रम की सुविधा का अनुपालन करने के लिए नूतन क्रम में रख दिया गया है इसके अतिरिक्त कौमुदी में पाणिनीय तन्त्र के शेष चारों पाठों का भी संकलन है जिसका संकेत ऊपर किया गया है।

संस्कृत व्याकरण को आचार्य भट्टोजि दीक्षित के योगदान का परिचायक चौथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है प्रौढमनोरमा। यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर भट्टोजि के अपने ही ग्रन्थ—सिद्धान्त कौमुदी—पर स्वोपज्ञ टीका है। नाम के अनुरूप ही यह एक अत्यन्त प्रौढ ग्रंथ है। संस्कृत के विद्यालयों में इस ग्रंथ के पठन-पाठन का चलन केवल अव्ययीभाव समास तक ही रहा। अत: इस अध्याय तक यह ग्रंथ सुलभ रूप से प्राप्त होता है।

भट्टोजिदीक्षित के चारों व्याकरण ग्रंथ संस्कृत व्याकरण के इतिहास में किस सीमा तक महत्वपूर्ण रहे हैं यह, अन्य बातों के अतिरिक्त, इस

तथ्य से भी प्रकट है कि इन ग्रंथों पर कुल मिलाकर ३७ टीकाएं लिखी गई जिनमें से शब्द कौस्तुभ पर छह, कारिकाओं पर दो, कौमुदी पर चौबीस तथा मनोरमा पर पांच टीकाएं लिखी गई। इनमें से कुछ टीकाओं को तो स्वतन्त्र ग्रंथों के समान ख्याति मिल गई है। कौण्डभट्ट द्वारा कारिकाओं पर लिखित दोनों टीकाएं-बृहद्वैयाकरण भूषण और वैयाकरणभूषणसार इसी कोटि की ठीकाएं हैं। कुछ टीकाएं संस्कृत व्याकरण की बहुमूल्यनिधि बन गई हैं, जैसे --सिद्धान्त कौमुदी पर नागेश भट्ट लिखित दो टीकाएँ बृहद् शब्देन्दुशेखर और लघुशब्देन्दुशेखर, ज्ञानेन्द्रसरस्वती की तत्त्वबोधिनी वासुदेव वाजपेयी की बालमनोरमा, और प्रौढमनोरमा पर पौत्र हरिदीक्षित द्वारा लिखित बृहद् शब्दरत्न और लघुशब्दरत्न इसी प्रकार की टीकाएं हैं। इसके अतिरिक्त एक रोचक तथ्य यह भी है कि भट्टोजि के ग्रंथों पर अनेक दूषणों और खण्डनों की रचना हुई थी। इनमें से भास्कर दीक्षित का शब्द कौस्तुभ खण्डन और पण्डितराज जगन्नाथ की मनोरमाकुचमर्दिनी विशेष प्रसिद्ध हैं।

यद्यपि संस्कृत भाषा और व्याकरण को आचार्य भट्टोजी का योगदान चार ग्रंथों के रूप में परिलक्षित होता है, तथापि सिद्धान्तकौमुदी ही उनकी ख्याति का मुख्य आधार है। भट्टोजि के चार व्याकरण ग्रंथों में कौमुदी को सर्वाधिक महत्व क्यों मिल गया, और अन्य वैयाकरणों द्वारा प्रक्रियाग्रंथ लिखे जाने पर भी सिद्धान्तकौमुदी को ही सर्वाधिक महत्व क्यों मिल गया— यह अध्ययन का एक रोचक विषय हो सकता है। इसका पहला कारण यह प्रतीत होता है कि भट्टोजि के दूसरे वृत्तिग्रन्थ, शब्दकौस्तुभ में वृत्ति की प्रौढ़ता नहीं है जबकि कौमुदी में वह प्रौढ़ता है। कौस्तुभ की रचना में भट्टोजि विषय एवं शैली दोनों दृष्टियों से मौलिक रहने का कोई प्रयास नहीं कर रहे थे—उन्होंने स्वयं ही स्पष्ट कहा है कि वे इस ग्रन्थ को महाभाष्य की शैली पर उसके सार ग्रन्थ के रूप में लिखना चाहते हैं। दूसरी ओर कौमुदी ग्रन्थ भट्टोजि का अपना ग्रन्थ है ऐसा निस्सन्देह कहा जा सकता है। यद्यपि भट्टोजि ने वृत्तियों के विषय में प्रक्रिया प्रकाश का आश्रय लिया है, उनके उदाहरण प्रायः मूर्धाभिषिक्त हैं और व्याकरण विवेचन में हरदत्त की पदमंजरी का प्रभाव भी उन पर पड़ा लगता है, पर प्रक्रियाशैली को पूर्ण प्रौढि तक पहुंचाने तथा फक्किकाओं के रूप में अनेकत्र अपना व्याकरणिक चिन्तन प्रस्तुत करके भट्टोजि ने कौमुदी को अपनी वैयाकरण के रूप में प्रतिष्ठा का स्थायी आधार बनाया है।

प्रक्रिया ग्रन्थ के रूप में भट्टोजि की सिद्धान्त कौमुदी कई बातों में

अन्य प्रक्रिया-ग्रन्थों से पृथक् है और इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है। पाणिनीय तन्त्र पर रचित प्रक्रिया ग्रन्थों की परम्परा में भट्टोजि की कौमुदी पर्याप्त बाद में लिखा गया ग्रन्थ है। जहां पूर्ववर्ती ग्रन्थों में पाणिनीय अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों को ग्रहण नहीं किया गया और तथाचिन्तित महत्वपूर्ण सूत्रों को रखा गया है, वहां सिद्धान्त कौमुदी में अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का प्रक्रिया क्रम में संकलन किया गया है। इसी एक परिस्थिति के परिणाम स्वरूप सिद्धान्त कौमुदी पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्रतिनिधि प्रक्रियाग्रन्थ के रूप में हमारे सामने आ जाती है।

जैसा कि हम ऊपर भी कह आए हैं, भट्टोजि के सिद्धान्तकौमुदी में पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय के शेष चार पाठों—धातुपाठ, गणपाठ, उणादि पाठ, और लिंगानुशासनपाठ का भी पूर्ण उपयोग और वृत्ति सहित संकलन किया है। इनमें से उणादि पाठ के विषय में इस मतभेद में न पड़ते हुए कि यह पाणिनिरचित है या शाकटायनरचित, भट्टोजि ने इसे पाणिनीय सम्प्रदाय का पाठ मानते हुए पञ्चपादी उणादि पाठ को कौमुदी के 'कृदन्त प्रकरण में पूर्व कृदन्त और उत्तरकृदन्त के मध्य में रखा है।

पाणिनीय सम्प्रदाय के पंचव्याकरण पाठों के अतिरिक्त भट्टोजि ने सिद्धान्तकौमुदी में एक और विषय पर भी ध्यान दिया है। कौमुदी में लगभग आठ सौ वार्तिक शान्तनवाचार्य-विरचित एक सौ फिट् सूत्र और तीस से भी अधिक व्याकरण-परिभाषाओं का उपयोग यत्र तत्र किया गया। पतंजलि के महाभाष्य की दृष्टियों को भी बहुधा प्रयोग में लाया गया है। इस प्रकार के संग्रह को सुनियमित करने के प्रयास में भट्टोजि ने एक नियम का पालन किया है—यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। इस प्रकार उन्होंने पूरे व्याकरणिक चिन्तन को किसी व्यक्ति के महत्वामहत्व के सन्दर्भ में न देखकर ऐतिहासिक सन्दर्भ में देख पाने की आधुनिक शोध-दृष्टि का परिचय दिया है।

पाणिनीय तन्त्र के अन्य प्रक्रिया ग्रन्थों की अपेक्षा सिद्धान्त कौमुदी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन जाने में एक कारण यह भी है कि शब्दरचना प्रक्रिया में भट्टोजि ने अपाणिनीय प्रयोगों को अस्वीकार कर दिया है जबकि अवशिष्ट प्रक्रियाकारों ने अपाणिनीय प्रयोगों को भी स्वीकार किया है। रामचन्द्राचार्य की प्रक्रियाकौमुदी में उस प्रकार के अपाणिनीय प्रयोगों को विशेषरूप से स्वीकार किया गया है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है। पिछली लगभग तीन सहस्राब्दियों से संस्कृत भाषा बोलचाल की भाषा नहीं

रही है। वह एक पुरानी क्लासिकल भाषा बन गई है जिसका रूप ऐतिहासिक दृष्टि से सुस्थिर हो चुका है। बोलचाल की भाषा न रह पाने के कारण रूपरचना की दृष्टि से संस्कृत में विकास की कोई सम्भावना नहीं रह गई है। इसलिए पाणिनीय तन्त्र के सहस्राब्दियों के व्याकरण सम्प्रदाय में संस्कृत के जिस ऐतिहासिक भाषाई रूप को सुनियमित करने का सफल एवं उचित प्रयास किया गया है, उसके स्थान पर अपाणिनीय प्रयोगों को प्रश्रय देना भाषाई दृष्टि से नितान्त अवैज्ञानिक प्रयास है। इसलिए भट्टोजि द्वारा कौमुदी में केवल पाणिनीय रूपरचना के लिए विशेष आग्रह करना महत्वपूर्ण है।

हम प्रारम्भ में ही कह आए हैं कि आचार्य भट्टोजि दीक्षित एक विवादास्पद वैयाकरण रहे हैं। विवाद के मुद्दों में एक मुद्दा यह भी है कि व्याकरणिक चिन्तन की दृष्टि से भट्टोजि दीक्षित का योगदान विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भट्टोजि ने अपने ग्रन्थों में पूर्ववर्ती वैयाकरणों से वृत्ति, उदाहरण व्याकरणिक चिन्तन सदृश सभी क्षेत्रों में बहुत कुछ ग्रहण किया है। अपने ग्रन्थों में उन्होंने स्वयं सहर्ष स्वीकार किया है कि उन्होंने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मतों का संग्रह मात्र किया है। शब्द कौस्तुभ में वे स्पष्ट करते हैं—"परिभाष्य बहून् ग्रन्थान्। योऽर्थः क्लेशेन लभ्यते। तमशेषमनायासात्। इतो गृह्णीत सज्जनाः। (मंगल श्लोक)। इसी प्रकार कौमुदी के मंगल श्लोक में उन्होंने लिखा है—"मुनित्रयं नमस्कृत्य। तदुक्तीः परिभाव्य च। वैयाकरणसिद्धान्त-कौमुदीयं विरच्यते। प्रौढमनोरमा में यत्र तत्र भाष्यकार हरदत्त, वामन, माधव आदि को नामपूर्वक उद्धृत करना इस तथ्य का परिचायक है कि भट्टोजि पर पूर्ववर्ती वैयाकरणों का प्रबल प्रभाव है।

परन्तु इन स्पष्टोक्तियों से न तो यह सिद्ध होता है कि भट्टोजि में मौलिकता का नितान्त अभाव है और इससे भट्टोजि में वैयाकरण-व्यक्तित्व पर यह आरोप लगाने का अवसर मिलता है। उनका योगदान महत्वपूर्ण नहीं है। भट्टोजि की मौलिकता का अध्ययन तीन प्रकार से हो सकता है—व्याकरणदर्शन के प्रस्तोता के रूप में, व्याकरण सम्बन्धी विवादों पर अपनी स्पष्ट सम्मति रखने वाले के रूप में और महान् प्रक्रियाकार के रूप में।

भट्टोजि दीक्षित के व्याकरण दर्शन एवं भाषा चिन्तन सम्बन्धी विचार मुख्यतः शब्द कौस्तुभ की रचना महाभाष्य के सार ग्रन्थ के रूप में की गई थी। भर्तृहरि के वाक्यपदीय का भी उसमें बहुत अधिक उपयोग किया

गया है इसी प्रकार कारिकाओं मे कौस्तुभ का ही सार देने का दावा किया गया है—"तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेणेह कथ्यते।" (कारिका-१) पाणिनि से भट्टोजि तक व्याकरण दर्शन के विभिन्न विषयों का इतना अधिक गम्भीर मन्थन हो चुका था कि उसमें नया कहने के लिए बहुत कम अवसर था। तथापि व्याकरणदर्शन के विश्लेषण में व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने में इस समस्त विश्लेषण को भाषा और शैली की दृष्टि से नव्य (नव्यव्याकरण) आकार देने में भट्टोजि की मौलिकता महत्वपूर्ण है। पिछली कुछ सदियों स व्याकरणदर्शन के विवेचन में 'शब्दब्रह्म' इस विषय का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। भर्तृहरि के वाक्यपदीय में इस विषय के विस्तृत विवेचन के बाद से वैयाकरणों में यह एक प्रिय विषय बन गया था। इस सिद्धान्त की व्याख्या में अनेक प्रयास हुए। ऐसा कहा जा सकता है कि शब्दब्रह्म के सिद्धान्त के परिणामस्वरूप व्याकरण शास्त्र को दर्शन के क्षेत्र में सम्मान का स्थान मिला। परन्तु इस चित्र का दूसरा पक्ष यह भी है यह सिद्धान्त शुद्ध आदर्शवादी, काल्पनिक और बुद्धिविलास की वस्तु है। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन और विवेचन में इस सिद्धान्त से कोई सहायता प्राप्त नहीं होती। भाषा का विश्लेषण तथ्यों पर आधारित एवं वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाकर ही हो सकता है। शब्दब्रह्म का सिद्धान्त इस दृष्टिकोण के बनने में कोई सहायता नहीं करता इसलिए भाषा के वैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण में इस सिद्धान्त से कोई सहायता प्राप्त नहीं होती।

जैसा कि हम भट्टोजिदीक्षित के प्रक्रियाकार रूप के अध्ययन के समय भी देखेंगे, भट्टोजि विशुद्ध व्यावहारिक दृष्टिकोण रखने वाले व्याकरण-आचार्य हैं। इस कारण भट्टोजि ने शब्द ब्रह्म सदृश काल्पनिक सिद्धान्त पर कोई चर्चा नहीं की। शब्दकौस्तुभ और कारिकाएं दोनों ही ग्रन्थों में दार्शनिक चर्चा के प्रसंग उपस्थित होने पर उन्होंने शब्दब्रह्म सम्बन्धी धारणा का का स्पर्श कर उसका विशिष्ट शैली में निरूपण कर उसे वहीं छोड़ दिया है। शब्दकौस्तुभ के प्रथम आह्निक में वे कहते हैं—'तदेवं वराटिकान्वेषणाय प्रवृत्तः चिन्तामणि लब्धवान् इति वासिष्ठरामायणोक्ताभाणक न्यायेन शब्दविचाराय प्रवृत्तः सन् प्रसंगाद् अद्वैते औपनिषदे ब्रह्मणि व्युत्पद्यतामिति अभिप्रायेण भगवान् भर्तृहरिः विवर्तवादाधिकमपि प्रसंगात् व्युदपादयत् तत्तु तन्त्रान्तरे स्फुटं प्रकृते नातीवाक्तयुपमिति नेह तन्वते।' इस शब्दावलि में भाषाई चिन्तन में शब्द ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त की उपस्थिति के प्रति भट्टोजि का दृष्टिकोण पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार कारिकाओं

में भी दीक्षित ने मानो उसी दृष्टिकोण को दुहराया है। शब्द ब्रह्म पर उन्होंने एक ही कारिका लिखी है जो इस प्रकार है—इत्थं निष्कृष्यमाणं यत्। शब्दतत्वं निरंजनम्। ब्रह्मैवेत्यक्षरं प्राहुः तस्मै पूर्णात्मने नमः।" अर्थात् उसे प्रणाम करके छोड़ दिया है।

काल्पनिक सिद्धान्तों के प्रति यथार्थवादी व्यवहार की इस दृष्टि के परिणाम स्वरूप भट्टोजि दीक्षित सम्पूर्ण व्याकरण दर्शन की विश्लेषणशैली को नव्य आकार देने में सफल हुए यद्यपि कौस्तुभ और कारिकाएं दोनों ही ग्रन्थों में व्याकरणदर्शन का विवेचन हुआ है, परन्तु उभयत्र शैली विश्लेषणात्मक और कारिकाओं की शैली सूत्रात्मक है। कारिकाओं में ग्रन्थकार अधिक विषयों पर विचार कर पाए हैं। अपने भाषा-चिन्तन में भट्टोजि ने प्रायः नैयायिक और मीमांसकों का दृष्टिकोण सामने लाकर उसका खण्डन भी कर दिया है, और इस प्रकार व्याकरणदर्शन को अन्य अनुशासनों के साथ जोड़कर शैली की दृष्टि से उसे नव्य आकार प्रदान कर दिया है। उस शैली में विभिन्न वादों की उपस्थापक, अपने मत की प्रतिष्ठा और इस सभी विन्यास को सूत्रात्मक भाषा में रखना इस प्रकार होता है भट्टोजि ने व्याकरण दर्शन के प्रायः सभी विषयों को इस शैली में सफलतापूर्वक रखा है। उदाहरण तथा प्रतिपदिकार्थ में विभिन्न दार्शनिक मतवादों और व्याकरश-दर्शन के विचार को भट्टोजि ने नव्य शैली का आश्रय लेते हुए एक ही कारिका में रख दिया है— 'एकं द्विकं त्रिकं चाथ। चतुष्कं पञ्चकं तथा। नामार्थ इति सर्वेऽमी। पक्षा शास्त्रे निरूपिताः"। इसी प्रकार समास का पूरा निरूपण भट्टोजि ने कुछ ही कारिकाओं में कर दिया है—सुपां सुपा तिङानाम्ना। धातुनाऽथ तिङां तिङा। सुबन्तेनेति च ज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः"। इत्यादि।

इस कारिकात्मक नव्य शैली का गद्यात्मक आख्यान कौण्डभट्ट ने अपने दो महान् ग्रन्थों 'बृहद्वैयाकरण भूषण' और 'वैयाकरणभूषणसार' में किया है। उसी परम्परा को नागेशभट्ट ने और आगे बढ़ाया जब उन्होंने मंजूषाओं की रचना की। इस प्रकार निस्सन्देह कहा जा सकता है कि भट्टोजि दीक्षित ने व्याकरण दर्शन के क्षेत्र में विषय की दृष्टि से यथार्थवादी भाषाई दृष्टिकोण तथा शैली की दृष्टि से नव्य व्याकरण की शैली की प्रतिष्ठा—यह अभूतपूर्व सेवा व्याकरण की उन्होंने की है।

यह एक संयोग की बात है कि व्याकरणदर्शन में नव्य शैली के प्रस्तोता के रूप में भट्टोजि की ख्याति अभी होनी शेष है। परन्तु प्रक्रियाकार के

रूप में भट्टोजि की ख्याति बहुत अधिक हो चुकी है। इस का कारण भी स्पष्ट है। दीक्षित का प्रक्रिया ग्रन्थ अर्थात् वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बहुत श्रेष्ठ ऊँचाइयों को छू चुकी है। यहाँ तक हुआ है कि व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में कौमुदी ने अष्टाध्यायी को स्थानापन्न कर दिया है। कौमुदी की कुछ विशेषताओं का विवेचन हम ऊपर कर आए हैं। यहाँ भट्टोजि के प्रक्रियाकार रूप का मूल्यांकन इस रूप में करना आवश्यक और उचित है कि इस माध्यम से हमारे वैयाकरण ने संस्कृत भाषा और व्याकरण—दोनों को ही क्या सम्मिलित योगदान किया है। इसके लिए पृष्ठभूमि के तौर पर प्रक्रियाशैली के बारे में चलने वाले विवाद पर सरसरी निगाह डाल लेना सहायक सिद्ध होगा।

भट्टोजिदीक्षित का नाम प्रक्रियाकार के रूप में इतना अधिक ख्यात है कि प्रक्रियाशैली के विरुद्ध उठाई जाने वाली सभी आपत्तियाँ उनके प्रक्रियाग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी के विरुद्ध ही उठा दी जाती हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि भट्टोजि दीक्षित द्वारा लिखित सिद्धान्तकौमुदी पाणिनीय निकाय का प्रथम प्रक्रिया ग्रंथ नहीं है। सिद्धान्त कौमुदी से पूर्व धर्मकीर्ति का रूपावतार, अज्ञातकर्तृक प्रक्रियारत्न, विमल सरस्वती की रूपमाला, रामचन्द्राचार्य की प्रक्रियाकौमुदी—ये सभी प्रक्रियाग्रंथ लिखे जा चुके थे। नारायणभट्ट ने भी अपना ग्रन्थ, प्रक्रियासर्वस्व, भट्टोजि की कौमुदी के समकाल ही लिख लिया था। न केवल इतना ही है, प्रक्रिया शैली का समुद्भव भी पाणिनीय तन्त्र से बाहर ईसा की प्रथम शताब्दी में कातन्त्र व्याकरण के साथ माना जाता है। इस शैली का उत्तरोत्तर विकास क्रमशः हेमव्याकरण और मुग्धबोध व्याकरण में हुआ है। इस सारी पृष्ठभूमि को देखते हुए सिद्धांत कौमुदी को इस शैली में लिखा हुआ नवीनतम ग्रंथ मान लेने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। सबसे बाद में लिखा होने के कारण सिद्धान्तकौमुदी का सबसे अधिक प्रौढ ग्रंथ होना स्वाभाविक ही था और इसलिए प्रक्रियाशैली पर आपत्तियाँ सिद्धान्तकौमुदी को ही लक्ष्य करके यदि उठाई गई हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी अथवा प्रक्रियाशैली पर अनेक आपत्तियाँ उठाई गई हैं और उनके अनेक समाधान भी दिए गए हैं। इनका इनमें सविस्तार विवेचन अन्यत्र किया है (दे० भट्टोजिदीक्षित हिज कन्ट्रीब्यूशन टु संस्कृत ग्रामर, दिल्ली, १६७६, पृ० २२-३५)। इस निबन्ध के कथ्य के अनुरूप केवल एक आपत्ति और समाधान का विवेचन संक्षेप में यहाँ पर्याप्त

है क्योंकि उससे भट्टोजि के मौलिक योगदान पर प्रकाश पड़ता है। सिद्धान्त-कौमुदी पर सबसे बड़ी आपत्ति यह की जाती है कि प्रक्रिया क्रम का अनुसरण करते हुए विषयों के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों का पुनः विभाजन इस प्रकार कर दिया गया है कि उससे पाणिनि के तन्त्र की सभी विशेषतायें और वैज्ञानिकता पूरी तरह अस्त व्यस्त हो गई हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिद्धांतकौमुदी के अष्टाध्यायी सूत्रों का पुनः विभाजन करते समय उस की उत्सर्ग-अपवाद शैली का परिरक्षण नहीं हो पाया है; पूर्वत्रासिद्धम् ८-२. १. और असिद्धवत्राभात् ६.४.२२ सदृश सूत्रों की प्रासंगिकता समाप्त हो गई है; अधिकार-प्रणाली को पर्याप्त क्षति पहुँची है। वस्तुतः कौमुदी में जिस प्रकार से पाणिनि के सूत्रों का क्रम पलटा गया है उसमें इस प्रकार की परिस्थितियों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। परन्तु इस आपत्ति का समाधान इस प्रकार दिया जा सकता है कि भट्टोजि सदृश महान् और अखण्ड वैयाकरण को इस प्रकार की कमियाँ (अष्टाध्यायी क्रम के सूत्रों को प्रक्रियाक्रम में बदल देने से) मालूम नहीं रही होगी– यह मान पाना सम्भव ही नहीं है। और वह भी तब जब कि भट्टोजि ने प्रारम्भ में शब्द कौस्तुभ की रचना के माध्यम से पाणिनि की अष्टाध्यायी पर ही वृत्ति लिखी थी। इसके रहते हुए भी भट्टोजि ने अपना सकल वैदुष्य और समग्रत योग्यता सिद्धांत कौमुदी को एक परिपूर्ण और परिपक्व प्रक्रिया ग्रंथ बनाने में लगा दी इसका एक महत्वपूर्ण भाषाई कारण इस महत्वपूर्ण परिस्थिति परिवर्तन में ढूंढने में आता है जहाँ हमने यह देखा कि अष्टाध्यायी सदृश महान् वैज्ञानिक व्याकरण ग्रंथ के रहते हुए भी, प्रक्रिया शैली के विरुद्ध इस प्रकार की वैध आपत्तियां होते हुए भी सिद्धांत कौमुदी की लोकप्रियता और मान्यता इस हद तक बढ़ गई कि अध्ययन-अध्यापन में इसने अष्टाध्यायी का स्थान ले लिया। इससे यही फलितार्थ प्राप्त होता है कि उस समय के भाषाई सन्दर्भ में उत्पन्न परिस्थितियों का उत्तर अष्टाध्यायी के पास न था; वह उत्तर सिद्धान्त-कौमुदी ने दिया। अष्टाध्यायी की रचना जब हुई उस समय संस्कृत व्यापक स्तर पर बोलचाल की भाषा थी; अतः पाणिनि का उद्देश्य अष्टाध्यायी के माध्यम से भाषा सिखाना नहीं था। पाणिनि क उद्देश्य भाषा के वर्तमान रूप को बनाना था, उसका विश्लेषण करना था अतः अष्टाध्यायी भाषा को सिखाने वाला ग्रन्थ नहीं है अपितु संस्कृत भाषा का विवरण-ग्रन्थ है। आधुनिक भाषा शास्त्रीय शब्दावलि में कहें तो कह सकते हैं कि अष्टाध्यायी विवरणात्मक भाषाविज्ञान का ग्रन्थ है।

परन्तु परवर्ती काल में परिस्थितियाँ बदलती गईं। बोलचाल के माध्यम के रूप में संस्कृत का स्थान अन्य भाषाओं ने ले लिया। भट्टोजि के काल तक पहुंचते पहुंचते एक कदम और आगे बढ़ाया जा चुका था और आधुनिक भारतीय भाषायें अपने अपने प्रदेशों में सिंहासनासीन हो चुकी थीं। ऐसे समय में एक ऐसी शैली की नितान्त आवश्यकता थी जो वैज्ञानिक प्रकार से संस्कृत भाषा सिखाने की आवश्यकता की पूर्ति कर सके। सिद्धान्तकौमुदी ने वह आवश्यकता पूरी की— और आज तक कर रही है। सिद्धान्तकौमुदी में प्रयुक्त प्रक्रिया शैली को प्रामाणिक और ग्राह्य बनाने के लिए भट्टोजि ने पाणिनि के सूत्रों का, कात्यायन के वार्तिकों का, परम्परागत परिभाषाओं का और नियमों का, प्रक्रियाप्रकाश और पदमंजरी की सूत्रवृत्तियों का, प्रक्रिया प्रकाश और महाभाष्य के मूर्धाभिषिक्त उदाहरणों का समावेश किया तथा परम्परा और वर्तमान की आवश्यकता का एक वैज्ञानिक समेकन प्रक्रियाशैली के रूप में प्रस्तुत किया। वस्तुतः संस्कृत भाषा और व्याकरण भट्टोजि की इस देन का सर्वदा ऋणी रहेगा।

व्याकरणदर्शन में नव्य शैली के प्रस्तोता के रूप में, व्याकरण-व्यवहार में प्रक्रिया प्रकार के प्रौढि कर्ता के रूप में अपना मौलिक योगदान देने के अतिरिक्त भट्टोजि दीक्षित ने एक तीसरे क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान किया है। यह क्षेत्र व्याकरण के उठने वाले बौद्धिक विवादों (academic debates) के क्षेत्र में हैं। जिस प्रकार उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों में भट्टोजि ने विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है, उसी प्रकार इस तीसरे क्षेत्र में भी उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी ही रहा है। संस्कृत व्याकरण में किस सूत्र में किस पद का क्या अर्थ है; कौन सा शब्दरूप अथवा धातुरूप किस प्रकार बनता है; किस परिभाषा अथवा नियम की व्याख्या किस प्रकार होनी चाहिए— इस प्रकार के शुष्क बौद्धिक विषयों पर बहुत चर्चा होती रही है (कहीं कहीं आज भी हो रही है)। इस प्रकार की शुष्क अपरिणामी चर्चाओं पर व्यंग्य कसते हुए ही कहा गया था—"अर्धमात्रा-लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।" भट्टोजि भी एक वैयाकरण थे— और वे भी इस परम्परित पाण्डित्य शैली के ज्ञाता व्याख्याता वैयाकरण थे। इसलिए सिद्धान्तकौमुदी और प्रौढमनोरमा में इस प्रकार के अनेक अवसर भट्टोजि ने दिए जहाँ हम उन्हें इस प्रकार के बुद्धिविलासों में रस लेता हुआ देखते हैं। पर यहाँ भी वे प्रायः व्यावहारिक और यथार्थवादी दृष्टि का परिचय देते ही हैं। इसका उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा।

उदाहरणतया, मिदचोऽन्त्यात्पर: १.१ ४७ सूत्र की व्याख्या में रामचन्द्राचार्य से उनका मतभेद बहुत सूक्ष्म किन्तु महत्वपूर्ण है। रामचन्द्राचार्य ने प्रक्रिया प्रकाश में इसकी वृत्ति इस प्रकार दी है—"अन्त्यादचः परो मित् स्यात्।" भट्टोजि इसे अशुद्ध मानते हैं। इसका कारण यह है कि मुच् धातु सदृश उदाहरणों में हम यह नहीं कह सकते कि इसमें 'उ' अन्तिम स्वर है क्योंकि इसके उपरान्त च् का प्रयोग भी है। इस भ्रांति को दूर करने के लिए भट्टोजि इस प्रकार वृत्ति करते हैं—"अचां मध्ये योऽन्त्योऽच्" इत्यादि। अर्थात् अचों में जो अन्तिम अच् है उसके उपरान्त इत्यादि। इस प्रकार की व्याख्या में अन्तिम अच् को ढूंढ निकालने की कोई समस्या नहीं रहती।

इस प्रकार के शतशः स्थल कौमुदी और मनोरमा में हैं। यहां केवल एक उदाहरणमात्र दिया गया है। ऐसे स्थलों पर भट्टोजि के व्याकरण शास्त्रविषयक अगाध पाण्डित्य के दर्शन हमें होते हैं। निष्कर्षस्वरूप हम यही कह सकते हैं कि भट्टोजि दीक्षित ने व्याकरणिक विवादों के सम्बन्ध में अपने अगाध वैदुष्य का परिचय दिया है; व्याकरणदर्शन में प्रस्तुतीकरण में नव्यव्याकरण की शैली का प्रतिपादन किया है; संस्कृत भाषा के शिक्षण के लिए पाणिनीय तन्त्र के अन्तर्गत प्रक्रिया शैली का परिपाक किया है। संस्कृत भाषा और व्याकरण को अपने इस श्रेष्ठ योगदान के परिणामस्वरूप ही भट्टोजिदीक्षित ने अपना स्थान पाणिनि, पतंजलि, कात्यायन, भर्तृहरि, वामन-जयादित्य, हरदत्त, कैयट सदृश महान वैयाकरणों की तालिका में बनाया है।

भाट्टमीमांसक मत में वाक्यार्थ बोध

—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

अपने भावों की प्रतीति कराने के लिए भाषा का अथवा वाक्यों के प्रयोग की तथा किसी व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त वाक्यों को सुन कर या पढ़ कर वाक्यार्थ के अथवा वाक्य का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के तात्पर्य के "उसके भावों के" बोध की प्रक्रिया अनादिकाल से चली आ रही है। इस प्रक्रिया का ज्ञान जन सामान्य को चेतना के उदय के साथ ही इतने सहज रूप से हो जाता है कि सर्वसाधारण व्यक्ति यह कल्पना भी नहीं कर पाता कि भाषा और भावबोध ये दो भिन्न पदार्थ हैं, और इनके पीछे एक सुव्यस्थित दर्शन है। भाषा और भावबोध के सहभाव को जन सामान्य इतना सह-चरित रूप में अनुभव करता है कि इन दोनों पदार्थों में पार्थक्य है इस सन्दर्भ में भी उसे सन्देह होने लगता है और वह इन्हें अभिन्न अथवा नित्य रूप से सम्पृक्त रूप से समझने लगता है यही कारण है कि शिव और पार्वती के सहभाव को प्रकट करने के लिए सरस्वती के रससिद्ध कवि कालिदास ने वाक् और अर्थ की सम्पृक्तता को ही सर्वोत्तम उपमान मान कर उसका प्रयोग रघुवंश के प्रथम पद्य—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

में किया है। जन सामान्य में भाषा और भावों की इस अत्यन्त सहज सम्पृक्तता की स्वीकृति के होते हुए भी इसके स्वरूप भेद को, इनके सम्बन्ध को और उस सम्बन्ध के प्रभाव को पहचानने का, उसको सुस्पष्ट करने का प्रयत्न जहाँ आज के भाषा वैज्ञानिक करते हैं; वहीं हमारे देश के प्राचीन मनीषियों ने शताब्दियों एव सहस्राब्दियों पूर्व इस दिशा में अत्यन्त गम्भीर चिन्तन किया था। इस चिन्तन की प्रक्रिया में उनके निष्कर्षों में दृष्टि भेद से अथवा आधार भेद से जो अन्तर प्रकट हुआ है वह विविध सम्प्रदायों के रूप में सुप्रतिष्ठित है।

इस प्रसंग में मुख्यत: चिन्तन मीमांसाशास्त्र न्यायशास्त्र एवं शब्दशास्त्र अथवा व्याकरण शास्त्र में हुआ है। मीमांसाशास्त्र एतद् विषयक मीमांसा सर्वाधिक गम्भीर और व्यापक रूप से हुई है। इस समस्त चिन्तन परम्परा को हम तीन भागों में विभाजित मान सकते हैं:

१—एक भाग में भाषा की इकाई पर विचार किया गया है— भाषा की इकाई पद हैं अथवा वाक्य अथवा पदों के भी अवयव प्रकृति प्रत्यय और वर्ण ये तीन पक्ष भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में उभर कर प्रकट हुए हैं। उदाहरणार्थ—न्याय शास्त्र पदों को भाषा की इकाई मानता है, तो मीमांसा शास्त्र वाक्य को। व्याकरण शास्त्र में वाक्य को भाषा की इकाई मानते हुए भी पद एवं प्रकृति प्रत्ययरूपी पदांशों पर भी पर्याप्त विचार करते हुए व्यावहारिक रूप में इन्हें भी भाषा की इकाई मान लिया गया है, जबकि सिद्धान्त पक्ष के रूप में वहां भी पद और पदांश की कल्पना को असत् पक्ष ही माना गया है।[1] और कहा गया है कि वाक्य में देवदत्त आदि पद वस्तुत: निरर्थक हैं, उनका कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है।[2]

२ — इस चिन्तन प्रक्रिया के दूसरे भाग में भाषा का शक्तियों पर विचार हुआ है, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियां मुख्य हैं, वाक्य को सुनकर जब उसके अवयवार्थ और समष्टि अर्थ में विसंगति की कल्पना की संभावना नहीं होती "मैं पढ़ता हूँ, देवदत्त जाता है, विद्यार्थी कक्षा में बैठे हैं, "इत्यादि वाक्यों में सामान्यत: विसंगति की कल्पना नहीं होती और सहज भाव से अर्थ प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों में अर्थ को बोध कराने वाली वाक्यगत या पदगत शक्ति को अभिधा शक्ति या वाचक शक्ति कहते हैं, "मेरा घर रुपनगर थाने पर ही है, या थाने के पास है। जरा बिल्ली से दूध को देखते रहना, अहं ब्रह्मास्मि तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों में अर्थ प्रतीति का स्वरूप कुछ भिन्न प्रकार का है, यहाँ वाक्यांश और वाक्य समष्टि के अर्थ सहजभाव से सुसंगत नहीं दीखते। यद्यपि वाक्यार्थ वोध इससे भी सुसंगत ही होता है।

क्योंकि "मेरा घर रूप नगर थाने पर ही है" वाक्य में रूप नगर थाने पर वाक्यांश में अधिकरण कारक का प्रयोग अर्थ में विसंगति उत्पन्न करता है। अधिकरण कारक की विभक्ति आधार का बोध करती है।[3] किन्तु थाना मेरे घर का आधार है ऐसी कल्पना भी आप नहीं करते। यही स्थिति "मेरा घर रूप नगर थाने के पास है" वाक्य

१—अ त्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत: सत्यं समीहते ।। वाक्यपदीय

२—ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्वले ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्यु: निरर्थका: ।। वही ।

३—आधारोधिकरणम् । पाणिनि अष्टाध्यायी ।

को भी है, क्योंकि पास "पार्श्व" शब्द का वाक्य अर्थ मुख्य इकाई का एक भाग होता है, कुछ परिवर्तन के बाद इसका अर्थ "अव्यवहित" निकटता भी ले सकते हैं। किन्तु जिन्होंने मेरे घर को देखा है उन्हें विदित है कि थाना और मेरे घर में न अंश-अंशी भाव है और न अव्यवहित निकटता। फिर भी वाक्यार्थ के प्रत्यय में कोई बाधा नहीं होती। "जरा बिल्ली से दूध देखते रहना" वाक्य में "देखते रहना" वाक्यांश की विसंगति उसकी बढ़कर है। साथ ही उक्त वाक्य को सुन समझ कर श्रोता बिल्ली से ही नहीं कुत्ता और कौआ आदि सभी से दूध की रक्षा करता है और अपने कार्य को वक्ता का प्रयोजन समझ कर आज्ञा या अनुरोध पालन के रूप में ही करता है, जबकि बिल्ली और कुत्ता आदि पदार्थ पूर्णतः भिन्न हैं। उसे लक्षणा शक्ति कहा गया है तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि आदि वेदान्त वाक्यों से जिस महावाक्यार्थ का बोध होता है वहां भी लक्षणा शक्ति ही अर्थ का बोध कराती है।

"अब पांच बज रहे हैं, सूर्यास्त होने को है" इत्यादि वाक्यों से जब भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न अर्थ का बोध होता है, तब केवल अभिधा या लक्षणा का ही प्रभाव नहीं मान सकते। क्योंकि "अब पांच बज रहे है वाक्य का कृपया अब भाषण बन्द कीजिए। यह अर्थ पिताजी टेलीविजन चलाइये पिक्चर का समय हो गया हैं। अथवा मम्मी तैयारी करना शुरु कीजिए नहीं तो सिनेमा हाल में समय पर नहीं पहुंचेंगे" या ट्रेन छूट जायेगी आदि अर्थ अभिधा और लक्षणा शक्तियां नहीं दे पाती है। ऐसे अवसरों पर व्यंजनाशक्ति से अर्थ बोध होता है यह स्वीकार किया गया है। धर्मशास्त्र के वाक्य "गौ की हत्या से महापाप होता है" में गौ पद का गौजाति अर्थ है, खिलौनों की दूकान पर बालक के वाक्य' मम्मी मुझे ये हाथी ले दो" वाक्य में गाय या हाथी पद का अर्थ गाय या हाथी की आकृति है। "उसने अपनी गाय बेच दी" वाक्य में गौ केवल व्यक्ति विशेष का बोध होता है। इस प्रकार शब्द का अर्थ जाति या व्यक्ति अथवा गुण क्रिया क्रिया या यदृच्छा अथवा जाति से युक्त व्यक्ति यह प्रश्न भी इसी शाखा में विचारा गया है।

३— चिन्तन की तीसरी धारा में विचार का विषय रहा है कि वाक्य में अर्थ चाहे वाक्यसमष्टि में रहता हो, अथवा उसके अवयव पद प्रकृति प्रत्यय और वर्णों में उससे अर्थ बोध की प्रक्रिया क्या है, साथ ही बोध के लिए आवश्यक संकेत ग्रहण की प्रक्रिया क्या है। इस विषय पर अत्यन्त

चिन्तन किया गया है। प्रक्रिया का यह चिन्तन यद्यपि न्याय व्याकरण एवं साहित्यशास्त्र आदि शास्त्रों में किया गया है, किन्तु इस प्रसंग में सर्वाधिक गम्भीर चिन्तन मीमांसा शास्त्र में हुआ है। इस शास्त्र में किये गये इस चिन्तन को हम पुनः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं इनमें एक को अभिहितान्वयवाद के नाम से एवं द्वितीय को अन्विताभिधान नाम से सामान्यतः जाना जाता है, दोनों ही धाराओं का चिन्तन इतना गम्भीर और प्रौढ है कि किसी एक पक्ष की युक्तियों को सुनने के बाद आपको ऐसा लगेगा कि यह पक्ष ही पूर्णतः सत्य और निर्विवाद रूप से ग्राह्य है, इसकी युक्तियों का खण्डन प्रारम्भ करता है तो अत्यन्त प्रबल प्रतीत होती हुई युक्तियों की धज्जी उड़ती देख उस पक्ष के बुद्धि वैशद्य पर आश्चर्य होने लगता है और यह बुद्धि वैशद्य दोनों ही वादों के समर्थकों में समान रूप से मिलता है।

वाक्यार्थ बोध की इस प्रक्रिया पर मीमांसा शास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने विचार किया है और इन आचार्यों की सूची में अस्सी से अधिक नामों का परिगणन मैंने "अभिधावृत्तिमातृका" की भूमिका में किया है, किन्तु इन दोनों सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र माने जाते हैं। अभिधावृत्तिमातृका के लेखक मुकुल भट्ट ने दोनों बातों के समन्वय पर आधारित एक तृतीय वाद की चर्चा की है[1] लक्षणा सहकृत वाक्यार्थ प्रतीति में इस समन्वितवाद की अधिक अपेक्षा होती है।

भाषा विषयक उपर्युक्त तीनों प्रकार के चिन्तन में प्रथम प्रकार का चिन्तन मीमांसा न्याय व्याकरण आदि सभी शास्त्रों में पर्याप्त हुआ है फिर भी इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में किसी ग्रन्थ का नाम ले पाना मेरे लिए अभी संभव नहीं है। द्वितीय प्रकार के चिन्तन को स्वतन्त्रग्रन्थ के रूप में विविध ग्रन्थों में निबद्ध किया गया है, मुकुलभट्ट कृत अभिधावृत्तिमातृका, मम्मटकृत शब्द व्यापार विचार, अप्पय दीक्षित कृत वृत्तिवार्तिक, आशाधर भट्ट कृत कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका, मौनि कृष्णभट्ट कृत वृत्तिदीपिका, गदाधर भट्ट कृत शक्तिवाद आदि इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। तृतीय प्रकार का चिन्तन मुख्य रूप से कुमारिलभट्ट और प्रभाकर के ग्रन्थों और उनकी टीकाओं में हुआ है। संस्कृत के सामान्य विद्यार्थियों का काव्य प्रकाश आदि ग्रन्थों में ही इस विषय का विवेचन दृष्टिगत हो पाता

१—अभिधावृत्तिमातृका भूमिका पृ० २६-२८ एवं मुख्य ग्रन्थ पृ० ३६-४४

है। क्योंकि कुमारिलभट्ट के श्लोक वार्तिक और तन्त्रवार्तिक अथवा प्रभाकर मिश्र कृत शावर भाष्य पर विवरण एवं निबन्धन जिन्हें बृहती और लघ्वी के नाम से भी स्मरण करते हैं, आज खोजने पर भी सामान्य क्या विद्वान् पाठक को भी नहीं मिल पाते। इन पर लिखी गयी काशिका एवं ऋजुविमला आदि की तो चर्चा भी दूर है। इस क्षेत्र में स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में जो तीन ग्रन्थ लिखे गये हैं वे हैं—शालिकनाथ मिश्र कृत वाक्यार्थ वाद का पार्थसारथि मिश्र कृत वाक्यार्थनिर्णय एवं उस पर रामानुज की टीका तथा वाचस्पति मिश्र की तत्त्वविन्दु। इसे अत्यन्त दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि इन अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थों का समावेश किसी भी विश्वविद्यालय में अध्ययन अध्यापन की परम्परा में समाविष्ट नहीं किया गया है जिसके फलस्वरूप आज विद्यार्थी क्या आचार्यगण भी इनके नाम परिचय से भी वंचित रह जाते हैं। इन ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत निबन्ध में मैं अभिहित अन्वयवाद की ही चर्चा करना चाहूँगा।

वैयाकरणों के स्फोटवाद के अनुसार वाक्य स्वयं नित्य एवं निरवयव है, अखण्ड और अविनाशी है, किन्तु अनादि अविद्या के फलस्वरूप वेदान्तियों के जगत् के समान वाक्य में भी असद् होते हुए भी वर्ण प्रकृति प्रत्यय एवं पदरूप अवयवों का प्रतिभास होता है।[1] और इनके द्वारा नित्य वाक्य स्फोट की व्यंजना होती है, और उससे वाक्यार्थ बोध होता है। मीमांसक इस स्फोट पदार्थ की कल्पना को अनावश्यक मानते हैं, इनका कहना है कि—

मीयमानपरित्यागो वाधके नासति स्फुटे।
दृष्टात्कार्योपपत्तौ च नादृष्टपरिकल्पना॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार सुस्पष्ट वाधक प्रमाण के अभाव में प्रत्यक्ष से ज्ञायमान का परित्याग नहीं किया जाता, तथा सुविदित प्रमाणों से अथवा कारण से कार्य की सिद्धि हो रही हो तो अविदित प्रमाणों अथवा कारणों की कल्पना करना उचित नहीं होता, उसी प्रकार वाक्यार्थ बोध के हेतु के रूप में वाक्यार्थ बोध से अव्यवहित पूर्व में विद्यमान पद-पदार्थ आदि से युक्त वाक्य

---

१. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन। वाक्यपदीय १.७३

२. तत्त्वविन्दु पृ० ८।

की उपेक्षा करे अदृष्ट स्फोट की कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि स्फोट का साक्षात्कार किसी भी इन्द्रिय के माध्यम से नहीं होता, इसी कारण व्याप्तिग्रहण न हो सकने से वह अनुमान का भी विषय नहीं हो सकता। फलत: वह स्फोट केवल काल्पनिक पदार्थ है, यही मानना पड़ेगा, और इस काल्पनिक पदार्थ पर ही वाक्यार्थ बोध के लिए आश्रित होना अधिक प्रशस्त नहीं है।

क्षणभंगवादी बौद्धों अथवा शब्द को अनित्य मानने वाले नैयायिकों के अनुसार वाक्यस्थ वर्णों का उच्चारण एक काल में नहीं होता। उच्चरित होने के अग्रिम क्षण उनका नाश हो जाता है, श्रवण एक एक वर्ण का होता है अत: पद या वाक्य रूप में उनका श्रवण एक ही सम्भव नहीं है फिर उनसे अर्थ प्रतीति हो यह कैसे सम्भव है, अत: उनके मत में वाक्य के अन्तिम अंश के श्रवण के अनन्तर स्मरण द्वारा उपस्थापित होने पर पद के रूप में उनका बोध होता है, पुन: स्मृत पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है, कालान्तर में पद पदार्थ के रूप में तृतीय बार स्मरण होने पर वाक्य और वाक्यार्थ का बोध होता है।[1] इस स्मरण के लिए उच्चरित अन्तिम वर्ण स्मृति के लिए सद्बोधक होता है। इस प्रकार इस पक्ष में अन्तिम वर्ण का ज्ञान समस्त पद पदार्थ एवं वाक्य तथा वाक्यार्थ का कारण स्वीकार किया जाता है। मीमांसक लोग इस पक्ष को भी प्रशस्त नहीं मानते। उनका तर्क है कि एक काल में अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते यह सर्व स्वीकृत सिद्धान्त है, अत: जिस काल में अन्तिम वर्ण का उच्चारण हो रहा है, उस काल में पूर्वोच्चरित सभी वर्णों का उनके संस्कारों से उद्भूत पदों और पदार्थों का साथ ही उससे वाक्य और वाक्यार्थ का ज्ञान एक काल में स्वीकार्य नहीं हो सकता। अत: वाक्य बोध की यह प्रक्रिया प्रशस्त नहीं मानी जा सकती।

मीमांसा शास्त्र के अत्यन्त प्राचीन आचार्य उपवर्ष के अनुसार अन्तिम वर्ण के उच्चारण काल में स्मृति पटल पर आरूढ वर्णमाला ही वाक्यार्थ बोध हेतु होती है।[2] वर्णमाला को वाक्यार्थ का बोधक मानने में गौरव

---

१. पारमार्थिक पूर्व-पूर्व पद पदार्थानुभवजनितसंस्कारसहितमन्त्यवर्ण-विज्ञानमित्येके। तत्त्वविन्दु पृ० ६ न्यायमञ्जरी पृ० ३६३-३६४।

२. क—अस्तु तर्हि स्मृतिदर्पणारूढा वर्णमालैव वाक्यार्थधीहेतु:। तत्त्वविन्दु पृ० ८३

दोष होगा। उदाहरणार्थ "बालक गौ को लाओ, बालक गौ को बांधो, अर्भक गौ को बांधो, बच्चे गौ को लाओ, बच्चे गौ को बांधो, छोरे गौ को लाओ, छोरे गौ को बाँधो, इन आठ वाक्यों में गौ को लाओ, बांधो, बालक, अर्भक, बच्चे और छोरे" सात शब्दों का प्रयोग हुआ है। यहाँ पद में शक्ति मानने पर सात शक्तियाँ माननी होंगी। जबकि वर्णमाला में शक्ति मानने पर आठ। यहीं इन शब्दों में गौ के विशेषण भूत शुक्ल शब्द का पक्ष में प्रयोग बढ़ जाने पर पदों की संख्या केवल आठ होगी किन्तु वाक्यों की संख्या सोलह हो जायेगी।[1] इस प्रकार पद की अर्थबोधकता की तुलना में वर्ण कदम्बक वाक्य की अर्थ बोधकता पक्ष में अपार गौरव दोष होगा।

इसके अतिरिक्त सुदीर्घ और अतिसुदीर्घ वाक्यों में हम अनुभव करते हैं कि जैसे जैसे हम वाक्यों को सुनते हैं, वैसे वैसे अर्थ की प्रतीति होती है, न कि वाक्य की पूर्ण समाप्ति के बाद एक साथ वाक्यार्थ की प्रतीति। अतः पदार्थ से वाक्यार्थ की प्रतीति का पक्ष अनुभव के अनुकूल अतएव व्यावहारिक प्रतीत होगा, वर्णमाला रूप वाक्य पक्ष नहीं। अतः आकांक्षा योग्यता आदि की सहायता से पद वाक्यार्थ बोधक होते हैं, यह पक्ष अधिक संगत प्रतीत होता है, वर्णमाला पक्ष नहीं।

ख—प्रत्येकवर्णपदार्थानुभवभाविभावनानिचयलब्धजन्मस्मृतिदर्पणारुढा वर्णमाला इत्यन्ये। तत्त्वबिन्दु पृ० ७

१. ख—किं च शिशो गामानय, शिशो गां बधान, अर्भक गामानय, अर्भक गां बधान, बाल गामानय, बाल गां बधान, डिम्भ गामानय, डिम्भ गां बधान, इत्यष्टानां वाक्यानामष्टौ वाचकोक्तयः कल्प्याः। पदवादिनस्तु सप्तानां पदानां सप्त शक्तय इति। अनयैव दिशा शुक्लामिति पदप्रक्षेपे वाक्यबादिनोष्टावपराः कल्प्याः पदवादिनस्त्वेकैव। वाक्यार्थमातृकावृत्ति पृ० ३

ख—यदि वर्णमालैव स्मृत्या वाक्यार्थं बोधयेत् ततोऽर्भक गामानय, अर्भक गां बधान, शिशो गामानय, शिशो गां बधान, बाल गामानय, बाल गां बधान, डिम्भ गामानय, डिम्भ गां बधान इत्यष्टानां वाक्यानामष्टौ शक्तयः कल्पनीयाः तवेति कल्पना गौरवम्। पदवादिनस्तु सप्तानां सप्तैव शक्तयः इति कल्पना लाघवम्। शुक्लामिति पदप्रक्षेपे। पुनः पदवादिनोष्टानां पदानामष्टौ शक्तयः, तव तु षोडशापराः शक्तयः इति महद् गौरवमापन्नम्-तत्वबिन्दु पृ० ५४-५६।

वाक्यार्थप्रतीति के प्रसंग में चतुर्थ पक्ष अन्विताभिधानवादी प्रभाकर मिश्र के अनुयायी मीमांसकों का है, इनके अनुसार अन्वितपदरूप वाक्य वाक्यार्थ बोधक होते हैं। इस मत में पदों और पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जाती है, किन्तु वाक्यार्थप्रतीति उन पद पदार्थों के अन्वय से नहीं बल्कि अन्वितपदरूप वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, यह माना जाता है। भाट्ट मीमांसक वाचस्पतिमिश्र और पार्थसारथिमिश्र आदि के अनुसार यह पक्ष भी तर्क संगत नहीं है क्योंकि इस प्रसंग में प्रश्न उपस्थित होगा कि वाक्यगत प्रथम उच्चारित पदों के अर्थ अन्य अभिहित अर्थों के साथ अन्वित रहते हैं, अथवा अनभिहित अर्थों के साथ? यदि यह माना जाए कि अनभिहित पदार्थों के साथ अन्वित रहते हैं तो वाक्यगत शेष पदों के उच्चारण की अपेक्षा ही न रहेगी। और कुछ उच्चरित पदों के द्वारा ही वाक्यगत समस्त उच्चरित और अनुच्चरित पदार्थों से अन्वित वाक्यार्थ का बोध श्रोता को हो जाना चाहिए[1]। इसके विपरीत यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार करें कि 'पदों द्वारा अभिहित पदार्थों से अन्वित अर्थ का ही अभिधान होता है" तो "उखायां पचेत्" वाक्य में जब तक "पचेत्" पद से अन्वित पाचन विधिरूप स्वार्थ का अभिधान न होगा, और तब तक "उखायाम्" पद से भी अधिकरण भूत उखा अर्थ का अभिधान न होगा, और इसी प्रकार जब तक" उखायाम्" पद द्वारा पदार्थ का अभिधान नहीं होगा तब तक "पचेत्" पद द्वारा भी क्रिया का अभिधान न हो सकेगा।। इस प्रकार इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा।[2] यदि यह कहा जाए कि प्रथम पदों द्वारा स्वतन्त्र पदार्थों का अभिधान होता है, पुनः अन्वित पदार्थों के रूप में वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, तो "अन्वित अर्थ का अभिधान होता है, यह

---

१. अथापि स्यादभिहितेनैवार्थान्तरेणान्वितमर्थमभिदधीत पदम्, अनभिहितेन वा तत्रानभिहितस्वार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधाने पदादेकस्मादेवोच्चारिताद् विवक्षितार्थप्रतीतेः वैयर्थ्यमितरेषाम्। तत्त्वबिन्दु पृ० ९३।

२. अभिहितान्विताभिधाने तु यावत् "पचेत्" इत्यनेनान्वितः स्वार्थो नाभिधानीयः, तावदुखायामित्यनेनाधिकरणं "उखा" नाभिधीयते। एवमुखायामित्यनेनापि यावत्स्वार्थो नाभिधानीयः तावत्पचेदित्यनेन स्वार्थो नाभिधीयते इति परम्पराश्रयप्रसंगः॥

तत्त्वबिन्दु पृ० ९३-९४।

कथन ही व्याहत होगा [1], क्योंकि उपर्युक्त स्वीकृति से "पदों के द्वारा अनन्वित अर्थ की प्रतीति और वाक्य द्वारा अन्वित अर्थ की प्रतीति' पक्ष तो हम भाट्टमीमांसाकों का है उसकी स्वीकृति हो गयी।

यहां यह कहना भी उचित न होगा कि उच्चरित पद पहले अपने स्व अर्थ का अभिधान किये बिना ही साहचर्य मात्र से अपने अपने अभिधेय अर्थ स्वरूप का स्मरण कराते हैं, पुनः वाक्यद्वारा अन्वित अर्थों का ही हुआ करता है, तथा वे वस्तुएँ ही वस्तुविशेष का स्मरण कराती हैं जो एक दूसरे के साथ सहचरित हैं, या सम्बद्ध हैं, ऐसा सर्व सामान्य को विदित हो, अन्विताभिधान पक्ष स्वीकार करने की स्थिति में यह स्वीकार करना संभव ही न हो सकेगा कि अमुक पद अमुक अर्थ के साथ पूर्व दृष्ट है, क्योंकि पदार्थ मात्र के साथ उसका प्रयोग कहीं स्वीकृत ही नहीं है। फलतः अमुक पद अमुक अर्थ का स्मारक है यह स्वीकार करना तर्क सम्मत न हो सकेगा। उदाहरणार्थ "गाम् आनय" वाक्य में प्रयुक्त "गाम्" पद आनयन क्रिया से अन्वित प्रयुक्त हुआ है और अन्वित अर्थ का ही बोध कराता है, यह स्वीकार कर लेने के बाद "गाम् पश्य" वाक्य में 'गाम्" पद आनयन क्रिया से अन्वित गौ अर्थ का स्मारक तो माना जा सकता है केवल गो अर्थ का नहीं। और आनयन क्रिया से अन्वित अर्थ "पश्य" पद से अभिहित अवलोकन क्रिया से किस प्रकार अन्वित हो सकेगा।

इस आशंका को दूर करने की दृष्टि से प्रभाकर के अनुयायी मीमासकों का कहना है कि वाक्यार्थप्रतीति के सन्दर्भ में पदों द्वारा उद्बुद्ध अर्थों को ही अन्विताभिधान पक्ष में स्मरण कहा जा रहा है। कारण यह है कि ज्ञान के केवल दो प्रकार हैं अनुभव और स्मृति। इनमें अनुभव तीन प्रकार का ही हो सकता है, प्रमाण, संशय और विपर्यय। वाक्य श्रवण काल में पद द्वारा उद्बुद्ध ज्ञान को संशय नहीं कह सकते क्योंकि संशय "उभयकोटिक" ज्ञान को कहते हैं, यह विपर्यय भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि विपर्यय उत्तरकालीन ज्ञान से बाधित हो जाता है और पदों द्वारा उद्बुद्ध पदार्थरूप ज्ञान किसी काल में बाधित नहीं होता। अतः यह न संशय माना जा सकता है और न विपर्यय। इसे प्रमाण भी नहीं मान सकते क्योंकि प्रमाण अनधिगत अर्थ का ही बोधक होता है, और यह अधिगत

---

१. पदार्थस्वरूपाभिधानपूर्वके तु तदन्वितार्थाभिधानमप्रामाणिक-मनुपपद्यमानमापद्येत। तत्त्वबिन्दु पृ० ९४।

अर्थ का बोध करा रहा है। परिशेषात् इसे "स्मरण" ही मानना होगा। जैसा कि कुमारिलभट्ट का भी कहना है—"सर्वस्यानुपलब्धेर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा"। श्लोकवार्तिक

पदों द्वारा अर्थ की स्मारकता को पुष्ट करते हुए उनका यह भी तर्क है कि यह एक सुविदित नियम है कि अतिशय अभ्यास से अतिशय संस्कार उत्पन्न होता है। संस्कारातिशय होने पर लघुतर उद्वोधक होने पर भी सम्बद्ध वस्तु का स्फुटतर स्मरण होता है। इसके विपरीत जिस विषय का एक बार दर्शन मात्र से उत्पन्न संस्कार मन्द होता है, तथा उद्वोधक कारण होने पर उसका स्मरण भी विलम्ब से एवं मन्द मन्दतर हुआ करता है। वाक्यगत किसी भी पद का स्व अर्थ के साथ अतिशय अभ्यास युक्त साहचर्य के कारण इस अर्थ का अतिशय संस्कार होता है, अतः किंचित् उद्वोधक सामग्री होने पर भी उसका स्मरण स्फुटतर होता है, जबकि अन्य कहीं कहीं सहचारित अन्वित अर्थों का साहचर्यमात्र देखा गया है, उनका स्फुरण होने पर भी स्मरण विलम्बित तथा मन्दतर होगा। तथा वाक्यार्थ प्रतीति के समय स्फुटतर रूप से स्मृत अर्थों का परस्परा अन्वय होगा मन्दतर या मन्दतम रूप से स्फुरित अर्थों का नहीं। अतः पूर्व उत्थापित दोष की आशंका नहीं होनी चाहिए।

अभिहितान्वयवादियों द्वारा पहले प्रकट किये गये अन्योन्याश्रय दोष की कल्पना करना भी उचित नहीं है क्योंकि वाक्यगत पदों के उच्चारण के साथ पदों के स्व अर्थ स्मृति सन्निहित होकर स्वरूप मात्र से अर्थान्तर की आकांक्षा करते हैं, सम्पूर्ण वाक्य के उच्चरित हो जाने पर आकांक्षा आदि के कारण पदों का अन्वय होता है, उसी समय स्मृति सन्निहित अर्थ अन्वित रूप से वाक्यार्थ के रूप में अभिहित होते हैं।

इस पक्ष में आकांक्षा के अनुदय का प्रश्न (दोष) नहीं उठाया जा सकता, क्योंकि आकांक्षा का अर्थ है जिज्ञासा। यह जिज्ञासा तब तक बनी रहती है, जबतक अर्थ का पर्यवसान न हो जाए। उदाहरणार्थ—"द्वारम्" पद कहने पर प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होने के कारण पूर्ण पद से प्रातिपदिकार्थ मात्र की प्रतीति होती है, प्रत्ययार्थ की नहीं। फलतः प्रातिपदिकार्थ से अन्वययोग में अर्थान्तर की जिज्ञासा बनी रहती है। "विश्व जिता यजेत् इत्यादि वाक्यों में कार्य और विषय के कारण का अभिधान हुआ है किन्तु कार्य की निष्पत्ति नियोज्य कर्ता के बिना संभव नहीं है, अतः यहां

भी अर्थ पर्यवसान के लिए अन्वययोग्य नियोज्य कर्तारूप अर्थान्तर की जिज्ञासा "आकांक्षा" बनी ही रहती है। अतः आकांक्षा के अनुदय के दोष की कल्पना यहां उचित नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार अन्वित अभिधान वाद के प्रसंग में पूर्व उत्थापित दोषों की कल्पना अनुचित है। और क्योंकि एक बालक भाषा को अन्वित वाक्यों के रूप में ही उत्तम और मध्यम वृद्ध के वाक्य प्रयोग और व्यवहार को देख कर सीखता है, अतः अन्वित वाक्यों से अन्वित वाक्यार्थ की प्रतीति ही माननी उचित है, ऐसा प्रभाकर के अनुयायी शालिकनाथ आदि स्वीकार करते हैं।

इसके साथ ही वे अभिहितान्वयवादी भाट्ट मीमांसकों पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि अभिहितान्वयवाद स्वीकार करने पर पदार्थ प्रतीति के लिए एक शक्ति तथा अन्वय के लिए द्वितीय शक्ति एवं वाक्यार्थ बोध के लिए तृतीय शक्ति की कल्पना करनी होगी। तथा स्मारकत्व पक्ष स्वीकार करने पर दो शक्तियां स्वीकार करनी पड़ेंगी, जबकि अन्वित अभिधान पक्ष में केवल एक वाक्यगत अभिधानशक्ति माननी होगी। इस प्रकार अभिहितान्वय पक्ष में दोष एवं अन्विताभिधान पक्ष में लाघव प्रतीत होता है। अतः अन्विताभिधान पक्ष ही मानना श्रेयस्कर है।

प्रभाकर के अनुयायियों के उपर्युक्त तर्कों को अस्वीकार करते हुए वाचस्पति एवं पार्थसारथिमिश्र आदि अभिहितान्वयवादियों का कहना है कि यह पूर्व स्वीकृत मान्यता है कि "सबलबाधक के अभाव में सहकारी कारण के रहने पर कार्य के नियत पूर्ववर्ती को कारण कहा जाता है। वाक्यार्थबोध के प्रसंग में हम देखते हैं कि उपर्युक्त स्थिति रहने पर पदों से ही अर्थ का बोध होता है, अतः पदार्थ की स्मृति के प्रतिपद को कारण मानना चाहिए। तथा यह पदार्थ स्मरण आकांक्षा योग्यता और आसत्तिरूप सहकारिकारणों के रहने पर वाक्यार्थ के बोध के प्रति कारण होता है। अतः अभिहित अन्वय पक्ष ही ग्राह्य है। इस प्रसंग में प्राभाकर मीमांसकों की ओर यह आक्षेप किया जा सकता है कि अभिहित-अन्वय पक्ष स्वीकार करने पर पदार्थ की प्रतीति के लिए एक अभिधा शक्ति, अन्वय के लिए द्वितीय शक्ति एवं वाक्यार्थ बोध के लिए तृतीय शक्ति स्वीकार करनी पड़ेगी, यहीं स्मारकता का सिद्धान्त मानने पर दो शक्तियों को मानने की आवश्यकता होगी, जबकि अन्वित अभिधान पक्ष मानने पर

केवल एक शक्ति स्वीकार करने से ही काम चल जाता है। इस प्रकार अभिहितान्वय पक्ष में गौरव दोष होगा। किन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि अन्वित अभिधान पक्ष में अन्वित स्वार्थ बोधक शक्ति पदों में स्वीकार की जाती है, किन्तु अन्वित विशेष की प्रतीति उसके द्वारा नहीं होती जबकि वाक्यार्थ सदा अन्वित विशेष ही रहता है, अतः उसके बोध के लिए उस पक्ष में भी अतिरिक्त शक्ति माननी ही होगी।

इसके अतिरिक्त अन्वित अभिधान पक्ष स्वीकार करने पर यह प्रश्न भी विचारणीय होगा कि अभिधा शक्ति अन्वयबोधिका है, अथवा अर्थ बोधिका? यदि अन्वयबोधिका है, तो अभिधाशक्ति से अन्वय का बोध हो जाने से अन्वय सामान्य के कारण वाक्य गत सभी पद सभी अर्थों के बोधक होने लगेंगे। क्योंकि वे पृथक् पृथक् अर्थ बोधक के हेतु अभिधा से सम्पन्न नहीं हैं, जैसे कि जाति वाचक पद स्वतन्त्र व्यक्ति के बोधक नहीं होते। जबकि अनुभव यह है कि पदार्थ भिन्न भिन्न हैं और पदों के द्वारा उनका प्रतीति पृथक् पृथक् होती है। अतः अन्वित अभिधान पक्ष में भी अन्वय और पदार्थ बोध के लिए पृथक् पृथक् शक्ति की कल्पना करनी होगी। इसके विपरीत अभिहितान्वय पक्ष में दो शक्तियों की कल्पना की अपेक्षा न होगी। क्योंकि जिस प्रकार आकारवान् के बिना आकार की स्वतन्त्र प्रतीति का होना संभव नहीं है, अतः आकार बोधक पद का उच्चारण करने पर शब्द सामर्थ्य का विषय हुए बिना भी आकारी आकार वाचन पद के ज्ञान के विषय से बाहर नहीं रह पाता, अर्थात् आकारवान् पदार्थ की प्रतीति भी आकार वाचक शब्द से ही हो जाती है, उसी प्रकार अर्थ का स्वरूप भी अन्वय विशेष के बिना संभव नहीं है, अतः अर्थ स्वबोधक शब्द के सामर्थ्य से अर्थ विषयक ज्ञान के साथ ही अन्वय का भी बोध कराएगा, क्योंकि अन्वय के बिना पदार्थ पूर्ण रूप से अवबुद्ध नहीं होता। इस प्रकार पदार्थ बोध और अन्वयबोध शब्दसामर्थ्य अर्थात् अभिधा के द्वारा "एक शक्ति के द्वारा" ही अभिहितान्वय पक्ष में भी होता है[1] द्वितीय शक्ति मानने की अपेक्षा नहीं होती।

इसके साथ ही पदार्थ मात्र की प्रतीति में पद के सामर्थ्य को पर्यवसित मानने पर कितने प्रयत्न करने पर भी वाक्यार्थ बुद्धि का उदय होना सम्भव

---

१. तत्त्वबिन्दु पृ० १२३-१३०

न हो सकेगा। अतः अनन्यगम्य पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों की ही प्रतीति शब्द के सामर्थ्य "अभिधाशक्ति" के द्वारा ही होती हैं, ऐसी कल्पना करना न उचित होगा न निर्दोष। जहाँ तक शब्द सामर्थ्य के बोध का प्रश्न है, उसके लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है, उसका बोध निम्नलिखित प्रकार के अनुमान के द्वारा होगा "काय की उत्पत्ति सामर्थ्य के बिना नहीं हो सकती क्योंकि उसकी उत्पत्ति हो रही है, अतः सामर्थ्य अवश्य है "पदानि वाक्यार्थबोधकसामर्थ्यवन्ति, वाक्यार्थबोधोत्पत्तेः । यन्न सामर्थ्यवत् न ततः वाक्यार्थबोधोदयः। यथा प्रमत्तवाक्यम्।" इत्यादि इसीलिए समस्त मीमांसक परम्परा में "अनन्यलभ्यः शब्दार्थः" यह सिद्धान्त निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। और इसी कारण मीमांसक परम्परा में किसी पक्ष को यह स्वीकार्य नहीं होता कि अमुक पद में अमुक कृत् या तिङ् प्रत्यय कर्ता का वाचक है और अमुक पद में वह कर्म या भाव का वाचक है।[1] यद्यपि अन्वित अर्थ बोधक पदों के अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध रूप से कर्म कर्ता आदि का बोध अनिवार्यतः होता ही है। "स्मरणीय है कि मीमांसक मत में इनकी प्रतीति के लिए लक्षणा व्यापार स्वीकार किया जाता है।" और क्योंकि भाषा का व्यवहार अनधिगत अर्थ के बोधक के लिए ही होता है, पदार्थबोध मात्र के लिए नहीं, अतः अविदित अर्थ के बोधन के लिए किया गया पदों का प्रयोग अन्यथानुपपत्त्या स्व अभिधेय अर्थ से सम्बद्ध अविदित अन्वित अवस्था का ही बोध कराता है।

पदार्थों की अन्वित अवस्था की यह प्रतीति अन्वयानुपपत्ति एवं पदार्थों की आकांक्षा योग्यता और आसत्ति की सहायता से ही होती है। अतः उसकी प्रतीति में पदसामर्थ्य "अभिधाशक्ति" कारण है यह प्रमाणित नहीं होता, उसकी प्रतीति अभिधा से भिन्न किसी अन्य शक्ति से होती है।[2] और वह शक्ति लक्षणा है ऐसा स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। इसी लक्षणा शक्ति को कुछ नवीन मीमांसकों, जिनका संकेत काव्य शास्त्र के आचार्य मम्मट ने किया है, ने "तात्पर्य शक्ति" के नाम से किया है।

इस प्रसंग में एक आपत्ति उपस्थित की जा सकती हैं कि "क्योंकि भाषा के व्यवहार में तात्पर्य अन्वित अर्थ में ही घटित होता है, अतः अन्वित वाक्यार्थ मुख्य अर्थ अर्थात् अभिधा व्यापार बोध्य अर्थ है। ऐसा

---

१. तत्त्व विन्दु पृ० १३१-१३३

२. वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितिः। तत्त्वविन्दु १५३।

स्वीकार करने पर 'गंगायां घोषः" इत्यादि वाक्यों में "तट आभीर ग्राम का अधिकरण है" इत्यादि अर्थ में तात्पर्य पर्यवसित होता है, अतः यही मुख्य अर्थ होना चाहिए। इस स्थिति में अभिधाव्यापार लक्षणाव्यापार के क्षेत्र में अतिव्याप्त होने लगेगा। किन्तु यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि प्रथमतः गंगा पद के अभिधेय अर्थ "प्रवाह" की निकटता के बोध से भी इस तट रूप अर्थ की प्रतीति हो सकती है, अतः तट अर्थ तक अभिधा को खींचना उचित नहीं है। साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि केवल वक्ता के तात्पर्य का विषय होने मात्र से वाचक पद में वाच्यार्थ की बोधकता के सामर्थ्य की सूचना ठीक उसी प्रकार नहीं होती जिस प्रकार काष्ठ पाक क्रिया के प्रति कारण है, एवं ज्वलन क्रिया पाक क्रिया के प्रति कारण होती है। इस प्रकार काष्ठ पाक क्रिया के प्रति परम्परा कारण है, साक्षात् नहीं फलतः गंगायां घोषः" इत्यादि वाक्यों में गंगा पद साक्षात् रूप से प्रवाह अर्थ का ही वाचक है, तट रूप अर्थ का नहीं। तट अर्थ की प्रतीति पद द्वारा परम्परा में अभिधा व्यापार के बाद लक्षणा व्यापार के माध्यम से ही होती है। अतः अभिधा के लक्षणा क्षेत्र में प्रविष्ट होने का प्रश्न ही नहीं आता। इसी भाँति वाक्यार्थ की प्रतीति में भी अभिधा व्यापार से पदार्थ की प्रतीति होने पर अभिधा से भिन्न लक्षणा व्यापार के द्वारा अन्वित पदार्थ रूप वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, यही सिद्धांत रूप से मानना उचित है।

वाक्यार्थ प्रतीति के क्रम से यह कहना उचित न होगा कि जिस प्रकार "गंगायां घोषः" वाक्य में लक्षणा से अर्थ प्रतीति में गंगा पद के मुख्य अर्थ प्रवाह रूप अर्थ का परित्याग हो जाता है, उसी प्रकार वाक्यार्थ प्रतीति में पदार्थ का परित्याग नहीं होता अतः यहाँ लक्षणा नहीं है, क्योंकि लक्षणा में पूर्व अर्थ "अभिधेय अर्थ" के परित्याग की अनिवार्यता का कोई नियम नहीं है —"दण्डिनो यान्ति" इत्यादि वाक्य इसके उदाहरण हैं। इसी कारण इस प्रकार की लक्षणा को अजहत् लक्षणा कहते भी हैं। इसी भाँति लक्षणा द्वारा अन्वित अवस्था की प्रतीति होने पर भी एवं तदन्तर्गत पदार्थों का भी परिग्रह होने पर लक्षणा व्यापार को स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। लक्षणा की अवस्था में पदार्थों का परित्याग होने पर तो लक्ष्यमाण वाक्यार्थ का ही परित्याग हो उठेगा, क्योंकि लक्ष्यार्थ तो प्रतीत पदार्थों की अन्वित अवस्था ही है।[1]

---

१. तत्त्वबिन्दु पृ० १५५।

इस प्रसंग में एक प्रश्न हो सकता है कि वाक्यार्थ प्रतीति में लक्षणा व्यापार का लक्षण घटित नहीं होता। क्योंकि लक्षणा वहीं होती है जहाँ अभिधेय अर्थ योग्यता के अभाव के कारण वाक्यार्थ में सम्बद्ध नहीं हो पाता, उस स्थिति में वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थों में जो अर्थ वाक्यार्थ से सम्बन्धयोग्य होता है, उस अर्थान्तर की प्रतीति लक्षणा से स्वीकार की जाती है जैसा कि कहा भी है :—

वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ॥[1]

किन्तु यहां आशंका उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार "मासमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि स्थलों में अन्वय योग्यता का अभाव न होने से लक्षणा नहीं मानी जाती, तथापि वहां मुख्यार्थ का ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि मुख्यार्थ का ग्रहण करने पर मास पर्यन्त कार्यान्तर परित्याग पूर्वक अग्निहोत्र की कर्तव्यता प्राप्त होगी, जबकि कार्यान्तर परित्याग यहां विवक्षित नहीं है, फलतः ऐसे स्थलो में कार्यान्तर अविरोधितया वृत्त्यन्तर की कल्पना के बिना ही अग्निहोत्र की कर्तव्यता स्वीकार की जाती है। उसी प्रकार अभिधा व्यापार की पुनः कल्पना के बिना "लक्षणा व्यापार से" अन्वित अवस्था की प्रतीति स्वीकार करने में कोई बाधा न होनी चाहिए। जहाँ तक लक्षणा के लक्षण की अव्याप्ति का प्रश्न है, वह उचित नहीं है, क्योंकि यदि लक्षणा व्यापार के लक्षण के अव्याप्त होने के कारण यदि अतिरिक्त वृत्ति की कल्पना करनी पड़ती है तो वृत्यन्तर कल्पना के गौरव से बचने के लिए लक्षणा के लक्षण को ही निम्नलिखित प्रकार से परिष्कृत करना उचित होगा—

वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे वाच्यार्थानुपपत्तितः।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तसम्बन्धाल्लक्षणोच्यते ॥

श्लोकवार्तिक

प्रस्तुत वाक्यार्थ प्रतीति के प्रसंग में भी लौकिक प्रयोग परम्परा के अनुसार विशिष्ट अर्थ के प्रत्यायन के हेतु प्रयुक्त पदों के स्वार्थमात्र परक होने पर वाच्यार्थ की अनुपपत्ति होती है, पुनः अर्थ रूप से सम्बद्ध होने के कारण अन्वित अवस्था की प्रतीति होती है, इस प्रकार लक्षणा के लक्षण घटित होने में कोई असुविधा नहीं होगी। फलत यह स्वीकार करना उचित होगा कि 'पद साक्षात् अभिधा व्यापार से स्व अर्थ मात्र का बोध कराते हैं,

१. तत्त्वबिन्दु पृ० १५७-१५८

तथा वह अर्थ बोधन लक्षणा व्यापार से वाक्यार्थ का बोध कराता है।

इस प्रसंग में पुनः यह शंका हो सकती है कि—पदार्थों को अन्वित-अवस्था विशेष के साथ कभी देखा न गया है, अतः उसके सम्बन्ध का बोध न होने से पदार्थों द्वारा अन्वित अवस्था भेद का बुद्धि में उदय भी नहीं हो सकता। इस प्रकार लक्षणा व्यापार का लक्षण वाक्यार्थ प्रतीति के क्रम में संगत न हो सकेगा। इस आशंका का समाधान यह है कि पदार्थ एवं अन्वित अवस्था विशेष परस्पर भिन्न पदार्थ नहीं है, अतः इस आशंका का प्रश्न ही न होना चाहिए। इस प्रकार अभिहित अन्वय मानने पर अभिधा व्यापार में अन्वय और अर्थाभिधान इन दो सामर्थ्यों की कल्पना की आवश्यकता न होगी, और न अभिधा का विषय अन्वय मानना होगा। अर्थ स्वरूप मात्र को अभिधा का विषय मानने पर काम चल सकेगा। फलतः अन्विताभिधान की अपेक्षा अभिहित-अन्वय पक्ष में लाघव होगा।[1]

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार "स्वाभाविक शक्ति सम्पन्न शब्द की स्वशक्ति से जो अर्थबोध का कारण है उस स्वविषयक ज्ञान रूप व्यापार को ही अभिधा व्यापार कहते हैं। यह अभिधा दो प्रकार की है, ऐन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय बोध्य पदार्थों की बोधिका तथा अतीन्द्रिय। जिन शब्दों से इन्द्रियों से साक्षात्कार करने योग्य पदार्थों का बोध होता है, उन शब्दों में रहने वाली अभिधा को ऐन्द्रिय अभिधा कहते हैं। तथा इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष के विषय न बनने वाले पदार्थों के वाचक शब्दों में रहने वाली अभिधा को अतीन्द्रिय अभिधा कहते हैं। अभिधा द्वारा अर्थों की साक्षात्प्रतीति नहीं होती, अपितु संस्कारों के उद्बोधन के माध्यम से होती है। संस्कारों का उद्बोधन अर्थ और शब्द के मध्य विद्यमान वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध के द्वारा होता है। शब्द में अर्थबोध स्मरण कराने की यह शक्ति औपपत्तिक है। तथा वृद्धव्यवहार द्वारा उसका ज्ञान होता है। इस प्रकार श्रोत्र द्वारा गृहीत शब्दों से वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ का स्मरण होकर अभिधा द्वारा पदार्थों का बोध होता है, तथा आकांक्षा आदि से सहकृत अभिधान शक्ति की सहायता से ही अभिहित पदार्थों की अन्वित अवस्था की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है। अन्वित पदार्थों की यह प्रतीति ही वाक्यार्थ है, अतः वाक्यार्थ पद ज्ञान परम्पराजन्य होने से शाब्द होते हुए भी लाक्षणिक है।[1] जैसा कि शबर मुनि ने स्पष्ट कहा है—पदानि एवं

---

१. तत्त्वबिन्दु पृ० १६०-१६१।

स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि, अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थमवगमयन्ति ।[1] अर्थात् पद अपने अपने अर्थों का अभिधान करके विरत हो जाते हैं, उसके बाद पदार्थ अवगत होकर वाक्यार्थ की प्रतीति कराते हैं । तुलनीय—शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता ।

यही कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी वाचस्पति मिश्र पार्थ सारथि मिश्र आदि की मान्यता है। सुधाटीकाकार गागाभट्ट ने वाक्यार्थ बोधक लक्षणा को तात्पर्यवृत्ति नाम से अभिहित किया है, अन्यथा सबने ही उसे लक्षणा वृत्ति ही माना है। विशेष विवरण के लिए वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्वबिन्दु एवं पार्थसारथि मिश्र कृत वाक्यार्थ निर्णय अथवा शास्त्रदीपिका उस पर टीकायें द्रष्टव्य हैं। प्रभाकर मिश्र के अनुयायी शालिकनाथ अभिहित-अन्वय के पक्ष को स्वीकार न कर अन्वित शब्दों से एक साथ ही अभिधा द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति स्वीकार करते हैं जिसका विस्तृत विवेचन मात्रिकामातृकी और उसकी वृत्ति में द्रष्टव्य है।

---

१. शाबरभाष्य १. १. २५ ।

आचार्य कुमुदेन्दु का भूवलयः में भाषाचिंतन

—डा० रणजीत सिंह सैनी

जैन आचार्यों की परम्परा में कुमुदेन्दु आचार्य का स्थान अत्यन्त विशिष्ट है। कुमुदेन्दु ईसा की नवमी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए तथा उनके द्वारा रचित और उपलब्ध एकमात्र ग्रन्थ भूवलय कुमुदेन्दु मान्व-खेट के राजा अमोघ वर्ष के राजगुरु थे। ईस्वी संवत् १६५५ में सर्व प्रथम बंगलौर निवासी येल्लपा शास्त्री को भूवलय ग्रन्थ की एक पांडुलिपि मिली जिसे पाण्डुलिपि के अनुसार मल्लिकव्वे नामक किसी महिला ने जय धवल, महाधवल, विजयधवल और अतिशयधवल इत्यादि ग्रन्थों की प्रति-लिपियों के साथ-साथ इस महान् ग्रंथ की प्रतिलिपि भी तैयार करवाकर गुणभद्राचार्य के शिष्य माघनन्द्याचार्य को प्रदान की थी।

"भूवलय" २० अध्यायों में निबद्ध मूलत: कन्नड़ भाषा में लिखित एक काव्य ग्रन्थ है। परन्तु इस ग्रन्थ की विशिष्टता तथा महानता इस तथ्य में निहित है कि महाभारत के विषय में व्यास की उक्ति 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" अक्षरश: सत्य सिद्ध होती है। सत्य तो यह है कि भूवलय जैसा ग्रन्थ न तो आज तक लिखा गया और न भविष्य में ही कोई ऐसा लिख सकेगा। इसका कारण यह है कि आचार्य कुमुदेन्दु ने अपने काव्य ग्रन्थ को अक्षरों या शब्दों में नहीं लिखा अपितु भूवलय ग्रन्थ में उद्धृत कथन के अनुसार पूर्वाचार्य गोतम गणधर के मंगलप्राभृत के समान तथा संस्कृत व प्राकृत में भूतबलि आचार्य के लिखे हुए ग्रन्थ के समान अथवा नागार्जुन

आचार्य द्वारा लिखे हुए कक्षपुष्ट ग्रन्थ के समान में गणितीय पद्धति से गणना कर गुणन करके अंकों में लिखा है। कुमुदेन्दु के अनुसार ६४ ध्वनियों से प्रगट होने वाली कन्नड़ भाषा में १८ प्रमुख भाषाओं और ७०० स्थानीय बोलियों के शब्दों को प्रगट करने का जैसा सामर्थ्य इनमें था वैसा विश्व की किसी अन्य भाषा में नहीं है। ये ६४ ध्वनियां इस प्रकार हैं: –

१. अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ—९ ध्वनियां ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से २७ बनती हैं।

२. क से लेकर म तक २५ स्पर्श ध्वनियां।

३. य व र ल श ष स ह—८ ध्वनियां।

४. अनुस्वार, विसर्ग उपध्मानीय तथा जिह्वामूलीय—४ ध्वनियां कुल योग ४६।

कुमुदेन्दु ने प्रमुख भाषाएँ इस प्रकार गिनवाई हैं।

प्राकृत, संस्कृत, मागध शौरसेनी, अपभ्रंश, अर्धमागधी मानव, लाट, गौड, गुर्जर, द्रविड़, आन्ध्र, महाराष्ट्रीय-तथा मलयालम—आदि ७०० भाषाएँ देश भेद के कारण क्षुल्लक भाषाएँ मानी गई हैं—इस प्रकार कुल योग ७१८ भाषायें होता है।

सर्वाधिक आश्चर्य पूर्ण तथ्य यह है कि कुमुदेन्दु ने इस प्रकार बोली जाने वाली भाषाओं की लिपियों को नवमांक सर्वज्ञ नामक कोष्ठक में एक ही अंक लिपि में बांधकर उन सम्पूर्ण भाषाओं को २७ × २७ वर्गों के एक कोष्ठक में समाविष्ट करके सभी को कर्नाटक की अनुराशि में मिश्रित कर छोड़ दिया है। कुमुदेन्दु के समान किसी भी अन्य विद्वान् ने सम्पूर्ण भाषाओं को एक ही अंक में गर्भित कर काव्य रूप में गुम्फित करने की क्षमता का प्रदर्शन आज तक नहीं किया। भूवलय में वर्णित विवरण के अनुसार प्राचीनकाल में आदिनाथ तीर्थङ्कर ने अपने राज्य को अपने दो पुत्रों भरत और बाहुबलि में बांट दिया और अपनी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को क्रमशः अक्षरविद्या और अंकविद्या का ज्ञान दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी की हथेली पर ४६ ध्वनियां लिखी जिनका पहले वर्णन किया

जा चुका है। दूसरी पुत्री सुन्दरी की हथेली में शून्य का अंक बनाकर बीच से इस प्रकार काटा कि शून्य में से १ से लेकर ९ तक के अंक प्रगट हो गये और सम्पूर्ण गणित विद्या के साथ साथ ७१८ भाषाओं की ध्वनियां को भी उसी बीजाक्षरी अथवा अनक्षरी भाषा से लिख दिया। इसी बीजाक्षरी भाषा का आश्रय लेकर आचार्य कुमुदेन्दु ने अपने १५०० शिष्यों को जो उपदेश भिन्न भाषाओं में दिये थे उन्हें बीजाक्षरीं नवमांक पद्धति में रच डाला। इस कथा में कितनी सत्यता है इस विषय पर मैं कुछ नहीं कहना चाहता। जहाँ तक भूवलय की विधि वस्तु और रचना शैली का प्रश्न है, वह अवश्य अद्वितीय है।

पहले मैं भूवलय से वर्णित विषयों की विविधता की ओर आधुनिक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा और आप स्वयं निर्णय करें कि मेरा मन्तव्य कहाँ तक ठीक है।

१ संस्कृत, प्राकृत, तमिल, तैलगु, मलयालम् तथा कन्नड़ भाषाओं के इतिहास की सामग्री।

२. भारतीय दर्शन और जैन धर्म के सिद्धान्तों की समीक्षा जिसमें किसी भी धर्म पर आक्षेप नहीं किया गया है।

३. कर्नाटक के प्राचीन राजनैतिक इतिहास की सामग्री।

४. भारतीय गणितज्ञ नवमी शताब्दी में गणित की अनेक विधाओं से परिचित थे। जैसे स्थानांक मूल्य जोड़ने के उपाय, समयोग भंग विभाजन की विशेष विधियाँ, परिवर्तन के नियम, ज्यामिति और रेखागणित के नियम, अनंतांक गणितीय विधि प्रथम समयोग तथा द्वितीय समयोग।

५. भौतिकी, रसायन, जीव विधि शक्ति, औषधशास्त्र तथा ज्योतिष के अनेक सिद्धान्त जो आधुनिक वैज्ञानिकों को भी चकित कर सकते हैं।

६. आयुर्वेद से तो सभी परिचित हैं परन्तु पुष्पायुर्वेद का सर्वप्रथम विस्तृत विवरण भूवलयकार ने ही प्रस्तुत किया है। इस सिद्धि के लिए

आवश्यक २४ पुष्पों की जाति और उनकी पहचान तथा उनके कहाँ कहाँ आयुर्वेद में प्रयोग हो सकता है इस सब का विस्तृत वर्णन ७ वें तथा ९ वे अध्यायों में किया गया है।

७. इसी प्रकार इसका एक प्रकरण है जिसके अन्तर्गत मणियों की परीक्षा-विधि और उनके नाना प्रयोगों को वैद्य-शास्त्र में किस प्रकार अपना कर जनता का भला किया जा सकता है दर्शाया है। कुमुदेन्दु के अनुसार चरक व सुश्रुत प्रभृति आचार्यों द्वारा लिखित वैद्यक ग्रन्थ हिंसा परक हैं जबकि उनके द्वारा लिखित पुष्पायुर्वेद शुद्ध अहिंसक है। इसी प्रकार इसके अन्तर्गत लौह शुद्ध करने की विधि तथा लौह से सुवर्ण बनाने की विधि का वर्णन है जिसमें पुष्पों के रसों का प्रयोग होता है।

८. कुमुदेन्दु ने एक दार्शनिक के रूप में द्वैत व अद्वैत तत्त्व का वर्णन करते हुए अनेकान्त तत्त्व के साथ तुलनात्मक रूप से वस्तु तत्त्व की प्रतिष्ठा करते हुए जैन सिद्धान्तों की स्थापना की है। तत्त्वार्थसूत्र जैन धर्म ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों की स्थापना में आचार्य कुमुदेन्दु ने जैनेतर मतों को नहीं ठुकराया है अपितु अपने से पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों को अमूल्य निधि समझकर उस साहित्य को एक प्रकार से तुलनात्मक रीति से समझाते हुए कहीं भी विषमता अथवा कटु आलोचना को स्थान नहीं दिया है, अपितु अगाध प्रमाणों के आधार पर केवल वस्तुतत्त्व का विवेचन किया है। कहीं भी कोई आक्षेप किसी पर नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है मानों भिन्न भिन्न मतों को जो मोती के समान हैं निर्मल बुद्धि रूपी धागे में पिरोकर सरस्वती के लिये अमूल्य कण्ठहार गूँथा है।

९. समस्त तीर्थङ्करों के स्वभाव के साथ राशि की तुलना करते हुए उनके आयु और नाम आदि का प्रश्नोत्तर एवं शङ्का समाधान के साथ साथ गणित शास्त्र के अवशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन ८वें अध्याय में किया है।

१०. सबसे अधिक चौंकादेने वाली बात भूवलय में ऋग्वेद के मंत्र

बाल्मीकिकृत रामायण के पद्य, गीता के श्लोक, सरस्वती वन्दना, गुरु महिमा विषयक श्लोक तथा पांच गीताओं का उल्लेख होना है। कुमुदेन्दु के अनुसार ऋग्वेद तीन प्रकार का बताया गया है —

१. देव ऋग्वेद

२. मानव ऋग्वेद

३. दनुज ऋग्वेद

देव ऋग्वेद और मानव ऋग्वेद कुमुदेन्दु के समय लुप्त हो चुके थे और उनका सबसे पहला मन्त्र "ओं" तत्सवितु मन्त्र था। दनुज ऋग्वेद का आरम्भिक मन्त्र "अग्निमीड़े पुरोहितं" था।

इसी संदर्भ में ओंकार की महिमा विषयक पद्य जो पहले अध्याय में आता है—इस प्रकार हैं—

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिन:।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नम: ।।

जहां तक पांच गीताओं के नामों का प्रश्न है वे इस प्रकार हैं—

१. अनादि गीता

२. कृष्ण गीता

३ व्यास गीता

४. कुमुदेन्दु गीता

५. पैशाची गीता

अनादि गीता का प्रवचन नेमी तीर्थङ्कर ने किया था। कृष्ण गीता और व्यास का मूल वर्तमान एक लाख परिमाण वाला महाभारत ग्रन्थ नहीं है अपितु "जय" नामक महाभारत का मूल स्वरूप है। जैसा कि निम्न उदाहरणों से स्पष्ट है—

चिदानन्दधनेन कृष्णेनोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम्।
वेदमयी परानन्दतत्त्वार्थं ऋषिमण्डलम् ।। (कृष्णगीता)

तथा

अथ व्यासमुनीन्द्रोपदिष्टजयाख्यानान्तर्गतायाः द्वितीयोऽध्यायः गीताया

के ८ वें अध्याय तेरहवाँ श्लोक भूवलय में वैसा का वैसा ही मिलता है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।

भूवलय के १६वें अध्याय में कहा गया है कि भगवद् गीता का पाठ करने से पहले मंगल कलश की पूजा करनी चाहिये । १९वें तथा २०वें अध्यायों में गीता के साथ अंकविज्ञान और असुविज्ञान के सूक्ष्म रहस्यों का उल्लेख किया गया है जिसको समझ पाना प्रत्येक के लिए सम्भव नहीं है ।

कुमुदेन्दु के अनुसार इस भूवलय नामक ग्रन्थ के मूलकर्ता श्री सर्वज्ञ भगवान् हैं । तदनन्तर कण्व देव गौतम, भूतबलि, आर्यभिक्षु, नागहस्ती और यति वृषभसेन हैं ।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कुमुदेन्दु ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख करते हुए यह स्वीकार किया है कि उनसे पहले भी भूवलय जैसे ग्रन्थ विद्यमान थे जो अब उपलब्ध नहीं हैं । (कर्तारः श्री सर्वश्रीदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः गणधरप्रतिगणधरदेवाः) । स्वयं कुमुदेन्दु की दृष्टि में भूवलय क्या है यह इस पद्य से स्पष्ट है: -

कारकं पुण्यप्रकाशकं पापप्रणाशकं इदं शास्त्रं भूवलयसिद्धान्त नामधेयम् । भूवलय में सरस्वती वन्दना—दूसरे अध्याय के आरम्भ में इस प्रकार है —

अक्लिष्टशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका ।
मुनिभिरुपासिततोया सरस्वती हरतु नो दुरितान् ।।

तीसरे अध्याय में गुरुप्रशंसा विषयक निम्न पद्य उल्लेखनीय है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

यहाँ तक भूवलय के विषयों की चर्चा हुई । अब जरा भूवलय की विचित्र शैली को समझने का प्रयत्न करें जो अपने आप में अनोखी है ।

जिन ६४ ध्वनियों का वर्णन पहले आ चुका है वे ही ध्वनियाँ भूवलय के कोष्ठकों में इस प्रकार रखी गई है कि समस्त शब्द समूह को प्रत्येक ध्वनि और प्रतिध्वनि रूप अक्षर संज्ञा को परिवर्तन करके इस अंक अक्षर को चक्रबधों के रूप में रखा गया है। इन बंधों के नाम कुमुदेन्दु के अनुसार इस प्रकार हैं।" चक्रबंध, हंस बंध, पद्म, शुद्ध नवमांक, वर, महापद्म द्वीप, सागर, पल्लव, अम्बु, सलाक, श्रेणी, अंक, लोक, रोमकूप, क्रौंच, मयूर, सीमातीत, नखबंध इत्यादि। इन बंधो की संख्या को देखते हुए सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि कुमुदेन्दु, मूर्तिकला और चित्रकला में भी पारंगत थे। काव्य बंधों में लिखित काव्य को यदि समानान्तर रेखा के रूप में पढ़ें तो प्राचीन कनाड़ी और नवीन कनाड़ी भाषा मिश्रित काव्य पढ़ा जायगा यदि काव्य की प्रत्येक पंक्ति के पहले अक्षरों को ऊपर से नीचे की ओर पढ़ें तो प्राकृत काव्य निकलता है और मध्य में २७ अक्षर बाद ऊपर से नीचे पढ़ें तो संस्कृत काव्य निकलता है।

इस प्रकार पद्य बद्ध रचना कर अलग-अलग रीति से दिशा बदल कर अध्ययन किया जाय तो प्रत्येक में अनेक भाषाएँ प्रगट होती हैं।

सम्पूर्ण काव्य में कुमुदेन्दु ने एक ही छन्द का प्रयोग किया है जो सांगत्य कहलाता है तथा जो लय ताल और क्रम के साथ गाया जा सकता है। कुमुदेन्दु का दावा है कि उसके भूवलय में इस प्रकार ताल और लय से युक्त ६००० सूत्र और ६ लाख श्लोकों की रचना की गई है। यदि प्रयत्न करने पर भूवलय के सभी श्लोकों को समझा जाए तो निश्चय ही भूवलय विश्व का अनन्यतम ग्रन्थ सिद्ध होगा।

भूवलय को समझने के लिये पहले अक्षर या अंक को लेकर अगले वर्गों तक आनुपूर्वी क्रम से पढ़ना चाहिए। आनुपूर्वी के तीन भेद है।

१. पूर्वापूर्वी

२. पश्चादानानुपूर्वी

३. मन्त्रतंत्रानुपूर्वी

जो क्रम बायी ओर से प्रारम्भ होकर दाहिनी ओर चलता है वह पूर्वानुपूर्वी है जैसे कि सामान्य देव नादेरी में काव्य रचना होती है। उदाहरण के लिये १, २, ३, ४, जब यही क्रम दाहिनी ओर से बाँयी ओर उलटा चलता है जैसा कि उर्दू, फार्सी, पश्तो भाषाओं ओर खरोष्टी लिपि में होता

है वह पश्चादानुपूर्वी कहलाता है। अथवा ऐसा समझें कि जैसे सम्भवतः इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कहा है—

"अङ्कानां वामतो गतिः"।

तीसरी पद्धति पाणिनीय तन्त्र की मण्डूक प्लुति और अपकर्ष जैसी है जिसमें क्रम निश्चित नहीं होता जैसे ४, २, १, ३, १ पूर्वानुपूर्वी पद्धति से अंक को पढ़ने से जैन सिद्धान्त प्रगट होते हैं। यत्रतत्रानुपूर्वी में अनेकानेक विषयों का विवेचन मिलता है। इस प्रकार गणितीय विधि में अंकों द्वारा अक्षरों की अपेक्षा अधिक विषयों का विवेचन किया जा सकता है।

इस निबन्ध में जो कुछ कहा गया है वह केवल भूवलय काव्य का परिचय मात्र है। यदि ध्यानपूर्वक इस ग्रन्थ का अवगाहन किया जाए तो हमें वेद, वेदान्त, तर्क, न्याय, मीमांसा, ज्योतिष, धर्म, काव्य तथा नाटक इत्यादि सभी विषयों पर प्रचुर सामग्री प्राप्त हो सकती है।

—:०:—

भर्तृहरि और आधुनिक भाषाचिंतन : एक तुलनात्मक विश्लेषण

आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा

इस लेख में मैं यह तथ्य रेखांकित करना चाहता हूं कि बीसवीं शताब्दी का नवीनतम पाश्चात्य भाषाचिंतन प्राचीनतम भारतीय चिंतन से अनेक अंशों में पीछे है और जो नवीनतम और क्रान्तिकारी माना जाता है, वह भारत में बहुत पहले अधिक व्यवस्थित रूप में कहा जा चुका है।

एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भारतीय अभिव्यंजना सूत्रात्मक रही है और व्याकरण में तो विशेष रूप से। वैयाकरणों की प्रसिद्ध उक्ति है कि "अर्धमात्रालाघवं पुत्रोत्सवं मन्यंते वैयाकरणाः"—कर्तव्य को अव्याहत रखते हुए कथन में आधी मात्रा का संक्षेप भी वैयाकरणों को पुत्रजन्म जैसा आनंद दायक होता है। इस लाघव अथवा संक्षेप में आग्रह के कारण कम से कम शब्दों में अपना कथ्य प्रकट करने का परिपाटी रही है। अतः उसके गूढ अर्थ को समझना उसी के लिये संभव है जो या तो परंपरा से परिचित हो या गुरुमुख से सुन चुका हो। आज का पाठक इन तीनों सुविधाओं से अधिकतर वंचित होने के कारण वास्तविक अभिप्राय तक नहीं पहुंच पाता, परिणामतः अर्थ का अनर्थ हो जाता है। संस्कृत के अध्येता को एक और सतर्कता बरतनी होती है। ग्रन्थकार यह मानकर कुछ लिखता है कि उसे समझने के लिए जो बौद्धिक उपकरण उपेक्षित हैं, वह पाठक में वर्तमान हैं। उपकारक या सम्बद्ध विषयों की वह व्याख्या नहीं करता, संकेतमात्र कर देता है। इसलिये उन विषयों से जो अवगत नहीं हैं, वह अभिप्रेत वस्तु को समझ नहीं पाता। व्याकरण के किसी सिद्धांत की चर्चा में मीमांसा या न्याय की किसी पंक्ति का आ जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है काव्यप्रकाश के अंतर्गत संकेतग्रह के विवेचन-क्रम में मम्मट द्वारा व्याकरण, न्याय, मीमांसा और बौद्ध-दर्शन के मतों का एक-एक दो-दो शब्दों में उपस्थापन। मैं इन बातों की ओर इसलिये इंगित कर रहा हूँ कि सामान्य या सतही दृष्टि से देखने पर भारतीय चिंतन के अनेक उपादेय तत्त्व दिखाई नहीं पड़ते।

मैं यह प्रदर्शित और प्रमाणित करना चाहता हूं कि जिन पाश्चात्य सिद्धांतों से बहुत सारे लोग अभिभूत या चकित हैं, उनमें कोई ऐसी चीज नहीं है। भारतीय सिद्धांतों के साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि वे बड़े सहज भाव से भारतीय चिंतन में चर्चित हुए हैं। इसके लिए दो नाम उपयुक्त होंगे : एक स्विट्जरलैंड के फर्तिना द सोसूर और दूसरे संयुक्त राज्य (अमेरिका) के नोएम चोस्की। ये दोनों आधुनिक पश्चिमी भाषा विज्ञान की सबसे बड़ी हस्तियाँ हैं।

सोसूर को आधुनिक भाषाविज्ञान का जनक कहा जाता है। पंद्रह साल की उम्र तक सोसूर फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी और लेटिन के अतिरिक्त ग्रीक का अध्ययन कर चुके थे और स्कूल में ही संस्कृत की ओर उन्मुख हो चुके थे। संस्कृत के प्रति उनका आकर्षण इतना बढ़ा कि उन्होंने पीएच० डी० का शोध-प्रबंध संस्कृत व्याकरण पर ही लिखा। विषय था 'संबंध कारक''। इसके लिये सोसूर को कितना श्रम करना पड़ा होगा, यह आसानी से समझा जा सकता है। अध्ययन-अध्यापन के क्रम में पाइप्तिसग, बर्लिन, पेरिस आदि कई स्थानों पर रहने के बाद वे विएना में भाषाविज्ञान के प्रोफेसर के रूप में १८९१ में आये और १९१३ में यहीं उनका देहांत हुआ। सोसूर ने लिखा बहुत कम है और जिस कृति के कारण वे अंतरराष्ट्रीय कीर्ति के भागी बने हैं वह भी उनकी लिखी हुई नहीं है। इस कृति की कहानी बड़ी रोचक है। १९०० से १९११ के बीच विएना विश्वविद्यालय में सोसूर सामान्य भाषा विज्ञान पढ़ाते थे। उन्होंने अपने व्याख्यानों को व्यवस्थित रूप में कभी नहीं लिखा। छिटपुट पन्नों पर व्याख्यानों के विचारणीय बिंदुओं को लिख लेना और पढ़ाने के बाद उन्हें कहीं रख देना या फेंक देना, यही उनका सिलसिला था। १९१६ में अस्वस्थता के कारण ५६ वर्ष की उम्र में उनके आकस्मिक देहांत से उनके मित्रों और सहयोगियों को बहुत आघात लगा। उनमें दो ने उनके विचारों को संकलित करने का बीड़ा उठाया। उनके नाम हैं शार्ल बाली और आलदेर सेशेहाय।

इन लोगों ने सोसूर के बचेखुचे नोटों को इकट्ठा किया, फिर उनके छात्रों द्वारा कक्षाओं में लिये गये नोटों को सहेजा, और, सोसूर के सहयोगियों से उनकी मान्यताओं पर विचार-विमर्श कर यथासंभव वस्तुनिष्ठता का निर्वाह करते हुए, उनके सिद्धांतों को लिपिबद्ध किया तथा पुस्तकाकार प्रकाशित किया। मूल पुस्तक फ्रेंच में है जिसका नाम है "कूर द लेंगिस्तोक ज़्नेराल''। ''कोर्स इन जेनरल लिंग्विस्टिक्स" नाम से इसका

अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध है। सोसूर की क्रान्तिकारी पुस्तक का यही इतिहास है। इसमें कितना सोसूर का है और कितना उनके छात्रों, सहयोगियों और संपादकों का यह कहना निश्चित ही असंभव है। भूल और भ्रम के न जाने कितने स्थल होंगे; फिर भी, यह पुस्तक मित्रों के स्नेह, सद्भाव और श्रद्धा का विरल तथा अनुकरणीय उदाहरण है। तमाम त्रुटियों के बावजूद, निस्सन्देह इसमें एक विशिष्ट चिंतक के मूल्यवान् विचार संगृहीत हैं, जिनसे पश्चिम में भाषाविज्ञान को नयी दिशा मिली है।

यहाँ सोसूर के प्रमुख सिद्धांतों का उल्लेख करते हुए मैं दिखाना चाहता हूं कि भारतीय चिंतन से उनका कितना साम्य है। स्वभावतः यह निरूपण संक्षिप्त होगा क्योंकि विस्तार का अवकाश नहीं है।

सोसूर की पहली देन है भाषाविज्ञान की स्वायत्तता की स्थापना। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में भाषा का अध्ययन किसी-न-किसी दूसरे शास्त्र से, जैसे साहित्य, इतिहास, धर्म, मिथक आदि से सम्बन्ध रहता था। भाषा को स्वतंत्र अध्ययन का विषय नहीं माना जाता था। सोसूर ने सिद्ध किया कि भाषा स्वतंत्र, निरपेक्ष अध्ययन का विषय है। भाषा का जो सामाजिक महत्व है, वह उसे स्वतंत्र, स्वायत्त अध्ययन का अधिकारी बनाता है। दूसरे विषय के साथ संयुक्त होने से भाषा की सार्थकता अनुद्घाटित रह जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी में यह घोषणा बड़े साहस की चीज थी। सच तो यह है क भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व पश्चिम में कभी स्वीकार किया ही नहीं गया था। इसलिये भाषा का गंभीर विवेचन भी वहाँ नहीं हो सका। इसके प्रतिकूल भारत में भाषा की महिमा आरंभ में ही स्वीकार कर ली गई थी और उसके विभिन्न पक्षों के अध्ययन की प्रणालियां विकसित हो चुकी थीं। शब्द के सामर्थ्य की इससे बड़ी प्रशंसा और क्या हो सकती है कि उसे ब्रह्म का प्रतिरूप मान लिया गया औप कहा गया कि 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति'-शब्दब्रह्म को जाननेवाला परब्रह्म को पा लेता है। शब्द और ब्रह्म का अद्वैत घोषित करने वाले भारतीय परिवेश में सूक्ष्म-गंभीर अध्ययन हुआ तो क्या आश्चर्य ? भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में ही कहा कि जिस प्रकार ब्रह्म अनादि, अनंत, अनश्वर है, उसी प्रकार शब्द तत्व भी अनादि, अनंत, अनश्वर है, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् का विवर्त होता है, उसी प्रकार शब्दार्थ से जगत् का व्यवहार सम्पन्न होता है। आगे उन्होंने कहा कि चूँकि लोकव्यवहार का साधन शब्द अर्थात् भाषा ही है, इसलिये उसके स्वरूप को जानना अत्यंत आवश्यक है और वह व्याकरण

से ही संभव है। इसलिये भाषा का स्वतंत्र निरूपण सर्वथा संगत है :

> **अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबंधनम्।**
> **तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥-१/१३**

शब्द शास्त्र की केवल स्वायत्तता घोषित करने से संतोष नहीं हुआ, बल्कि उसकी प्रशंसा में यहां तक कहा गया कि जीवन की सफलता का पहला सोपान शब्दशास्त्र ही है। यही नहीं, मोक्ष की कामना करने वालों के लिये वह सरल राजमार्ग है।

तात्पर्य कि लौकिक सिद्धि और पारलौकिक निवृत्ति का सबसे बड़ा साधन भाषा का ज्ञान है जो भाषाशास्त्र या शब्दशास्त्र से अधिगत होता है। यहां यह कह देना आवश्यक है कि संस्कृत में 'शब्द' के अनेक अर्थ प्रचलित हैं। शब्द का एक अर्थ है आवाज; दूसरा अर्थ है सार्थक उक्तिखंड जिसका अंग्रेजी पर्याय है 'वर्ड'; तीसरा अर्थ है संकेत (साइन); चौथा अर्थ है भाषा। शब्द की अर्थवत्ता की यह व्याप्ति उसके बहुल प्रयोग का निमित्त है। भर्तृहरि की शब्दस्तुति उनके ही शब्दों में सुनने योग्य है :

> **इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।**
> **इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥ १/१६**

भारत में शब्दशास्त्र को स्वायत्तता या स्वतंत्रता के लिए न तो तीन हजार वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी और न संघर्ष करना पड़ा। यहाँ उसकी स्वतंत्रता शुरू में ही घोषित कर दी गयी।

सोसूर की दूसरी उल्लेखनीय मान्यता है कि शब्द और अर्थ का संबंध रूढ़ (कन्वेन्शनल) और यादृच्छिक (आर्बिट्ररी) होता है। हाथी को गज क्यों कहते हैं, यह कहना संभव नहीं। पशु-विशेष के लिये गज शब्द मान लिया गया, वह उसके लिये प्रसिद्ध और प्रचलित हो गया। अतः गज के उच्चारण से पशुविशेष का बोध होने लगा। इस प्रसिद्धि को ही रुचि कहते हैं और चूंकि यह रूढ़ि प्रयोक्ताओं की इच्छा से निर्मित होती है, इसलिये, इसे यदृच्छा का अर्थ है 'जैसी इच्छा'। तात्पर्य कि किसी वस्तु के लिये किसी संकेत के प्रयोग को समाज ने स्वीकार कर लिया; बस उसके लिये वह चल पड़ा। किसी भी भाषा में ध्वन्यर्थ-व्यंजक (ऑनोमेटोपीइक) शब्दों को छोड़कर शेष शब्द रूढ़ या यादृच्छिक ही होते हैं। आस्तिक इसे ईश्वरेच्छा का नियम कहते हैं—इस शब्द से इस अर्थ का बोध हो, यह नियम ईश्वर ने बना दिया और समाज उसी का पालन कर रहा है। यहां ईश्वर नामक

किसी अतिलौकिक जीव के बदले समाज को ही ईश्वर कहना उचित होगा। समाज ने जिसे स्वीकार कर लिया, वह नियम बन गया और काम में आने लगा। शब्द और अर्थ का यह यादृच्छिक संबंध पूर्वजों से उत्तराधिकारी सहज भाव से पाते रहते हैं और भाषा का प्रवाह अविच्छिन्न चलता रहता है। बीच-बीच में इस प्रवाह में परिवर्तन भी होते हैं किंतु इससे प्रवाह की निरंतरता में बाधा नहीं पड़ती। इस रूढ़ि या प्रसिद्धि (कन्वेन्शन) की उद्‌भावना सोसूर की नहीं है। इसकी चर्चा क्रातिलुस' में आयी है। सुकरात और उनके शिष्य प्लेटो शब्द और अर्थ का संबंध यादृच्छिक ही मानते थे। सोसूर ने वहां से इसे ग्रहण कर इसे नया आयाम देने का प्रयास किया। भारत में संज्ञा के भेदों का उल्लेख रूढ़ि से ही आरंभ होता है और उसके साथ यौगिक और योगरूढ़ि, ये दो भेद और माने जाते हैं। मतलब कि शब्द मूलतः रूढ़ ही होता है, यौगिक और योगरूढ़ रूढ़ से ही निष्पन्न होते हैं। 'रूढ़' और 'यादृच्छिक', ये दोनों शब्द भारतीय शब्दशास्त्र के अंग हैं और इनका स्वच्छंद प्रयोग होता रहा है। शब्द और अर्थ के रूढ़ संबंध को भर्तृहरि ने अपनी विशिष्ट शैली में यों व्यक्त किया है :

> **विषयत्वमनापन्नैः शब्दैः नार्थः प्रतीयते।**
> **न सत्तयैव तेऽर्थानाम् अगृहीता प्रकाशकाः ॥ १/५६**

जब तक शब्द का किसी विषय से संबंध नहीं होता तब तक अर्थ की प्रतीति नहीं होती। शब्द-अर्थ का संबंध स्थापित हुए बिना, अस्तित्वमात्र से, शब्द अर्थों को प्रकाशित नहीं कर पाते। तात्पर्य कि रूढ़ि (प्रसिद्धि) से ही शब्दों में अर्थबोध की शक्ति आती है, रूढ़ि के अभाव में शब्द निरर्थक ध्वनिसमूह मात्र हो सकते हैं, सार्थक संकेत नहीं।

सोसूर की इसी मान्यता का यह भी विस्तार है कि शब्द और अर्थ में संबंध संकेत और संकेतित का है। शब्द संकेत (सिग्निफायर) है और अर्थ संकेतित (सिग्निफाइड)। शब्द भाषा का ध्वन्यात्मक (अकाउस्टिक) घटक है और अर्थ प्रत्ययात्मक या मानसिक (कन्सैप्च्युअल/मेंटल) घटक। शब्द और अर्थ के इस पारस्परिक संबंध का निरूपण न केवल भारतीय शब्दशास्त्र में ही बल्कि काव्यशास्त्र और काव्य तक में पाया जाता है। भर्तृहरि ने इस संबंध का निर्भ्रांत प्रतिपादन वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिका में किया है :

> **न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।**
> **अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ १/१२३**

जब कालिदास ने "वागर्थौ इव संपृक्तौ" कह कर रघुवंश में पार्वती-परमेश्वर की वंदना की तो शब्द-अर्थ के इसी संबंध को अभिव्यक्ति दी। और तुलसीदास ने "गिरा अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" कहकर इसी को स्पष्टतर किया। वस्तुतः शब्द और अर्थ पारमार्थिक रूप में अभिन्न हैं, व्यावहारिक रूप में ही उन्हें भिन्न कहा जाता है। इसलिये शब्द और अर्थ की पृथक् सत्ता केवल भाषिक विश्लेषण के क्रम में संभव है। सोसूर का इस तथ्य पर बल देना अत्यंत प्राचीन भारतीय मान्यता की प्रतिध्वनि के समान है।

सोसूर ने भाषा के सामाजिक पक्ष पर बहुत बल दिया है। भाषा की सामाजिकता का उनके सिद्धांतों में महत्वपूर्ण स्थान है। उनका कहना है कि भाषिक विश्लेषण के क्रम में हम वस्तुतः सामाजिक तथ्यों (फैक्ट्स) का विश्लेषण करते हैं। किसी भाषा का ध्वनिसमूह, वाक्यविन्यास या अर्थग्रहण समाज द्वारा निर्धारित होता है। ध्वनियां अनंत है। उनमें से कुछ का ही किसी भाषा में प्रयोग होता है क्योंकि उतनी ध्वनियों से ही उस भाषिक समुदाय का काम चल जाता है। इसी प्रकार वाक्य में किस शब्द के बाद कौन-सा शब्द रहेगा अर्थात् शब्दक्रम क्या होगा, यह भी समाज की स्वीकृति पर निर्भर है। निर्धारित क्रम में हेर-फेर समाज को स्वीकार नहीं होता और जो समाज को स्वीकार नहीं होता, वही अशुद्ध है क्योंकि शुद्धाशुद्ध का निर्णायक समाज ही होता है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ के संबंध को भी समाज के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। अतः सोसूर ने सामाजिक रूढ़ियों और सामाजिक तथ्यों को भाषिक अनुसंधान के केन्द्र में रखने का आग्रह किया क्योंकि उनके अनुसार भाषा 'सामाजिकता से निर्धारित मूल्यों की पद्धति' है। भारतीय भाषाचिंतन में भी समाज, सामाजिक रूढ़ियों तथा सामाजिक मूल्यों का स्थान यथावत् है। अंतर इतना ही है कि यहां 'समाज' शब्द के बदले 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ है। पाणिनि, पतंजलि, भर्तृहरि, चाहे जिसको भी लीजिये, लोक का महत्व सर्वत्र मान्य है। पाणिनि की पूरी भाषा-व्यवस्था सामाजिक संदर्भ और यथार्थ के ताने-बाने से निर्मित है। पतंजलि ने बार बार लोक की दुहाई दी है। वे प्रश्न करते हैं कि यह कैसे जाना जाता है कि शब्द अर्थ और उनका संबंध सिद्ध (नित्य) है? (कथं पुनर्ज्ञायते सिद्धः शब्दः अर्थः संबंधश्चेति?) उत्तर है—लोकतः-लोक से। लोक में एक-एक वस्तु को लेकर शब्द-प्रयोग होता है किंतु कोई शब्द गढ़ने नहीं बैठता। एक उदाहरण द्वारा पतंजलि अपना

अभिप्राय स्पष्ट करते हैं। घड़े की जरूरत पड़ने पर आदमी कुंभकार के यहां जाता है और कहता है कि मेरे लिये घड़ा बना दो क्योंकि पानी रखना है। इस तरह कोई वैयाकरण के पास जाकर नहीं कहता कि मुझे शब्द बनाकर दो क्योंकि प्रयोग करना है। पतंजलि ने सिर्फ यही नहीं कहा कि भाषा सामाजिक वस्तु है। एक कदम आगे बढ़कर उन्होंने यह भी कहा कि भाषा में शुद्धि और अशुद्धि का निर्णय लोक-प्रयोग से ही किया जा सकता है (प्रयोगात् हि भवान् शब्दानां साधुत्यम् अध्यवस्यति)। लिंग-निर्धारण के प्रसंग में उन्होंने फिर कहा कि 'लोकाश्रयत्वात् लिंगानाम्' —लिंग लोकाश्रित होते हैं, तात्पर्य कि उनके बारे में वैयाकरण कुछ नहीं कर सकता। कौन शब्द पुंलिंग है और कौन स्त्रीलिंग, यह लोकप्रयोग से ही जानना होगा। वाक्यपदीय में भी लोक शब्द की भरमार है, जैसे 'इति-कर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया' (सभी सामाजिक व्यवहार भाषा पर ही आश्रित हैं, 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' शब्द अर्थात् भाषा के बिना समाज में कोई प्रत्यय धारणा या विचार संभव ही नहीं है।)

सोसूर भाषा के दो रूप मानते हैं—एक व्यक्तिनिष्ठ, दूसरा समाज-निष्ठ। शब्द और अर्थ के समान भाषा के ये दोनों रूप भी परस्पर संबद्ध और सापेक्ष है, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। भाषा सामाजिक संपत्ति हैं, व्यक्ति समाज से ही भाषा को ग्रहण करता (सीखता) है और फिर संप्रेषण के लिये सामाजिक संदर्भों में ही उसका प्रयोग करता है। ध्वनि और प्रत्यय की दृष्टि से, या यों कहें कि शब्द और अर्थ की दृष्टि से, भाषा पर समाज का नियंत्रण रहता है, कोई मनमाने ढंग से उसमें परि-वर्तन नहीं कर सकता जब तक कि वह अबोध्यता से उत्पन्न हानि उठाने को तैयार न हो। प्रत्येक माषिक समूह या समाज में उस भाषा का शब्द-भंडार और व्याकरण वक्ता के मन में सहज भाव से वर्तमान रहता है। अवसर पड़ने पर वक्ता बिना प्रयास के भाषा का प्रयोग करता है। अपढ़ से अपढ़ को भी बोलते समय न तो किसी से शब्द उधार लेने की जरूरत पड़ती है और न व्याकरण पूछने की। तात्पर्य कि उसकी 'अपनी' भाषा सारी विशेष-ताओं के साथ उसके मन में बैठी होती है। भाषा के इस मानसिक पक्ष को सोसूर लाँग कहते हैं और जब कोई व्यक्ति इस मनः स्थिति में भाषा का उच्चारण करता है तो उसे वे पारोल की संज्ञा देते हैं। लाँग और पारोल, ये दोनों शब्द फ्रांसीसी भाषा के हैं। इनके लिये अंग्रेजी में 'लैंग्वेज' और 'स्पीच' शब्द व्यवहृत होते हैं। हिंदी में लाँग के लिये भाषा का और पारोल

के लिए वाक् का प्रयोग चल रहा है। सरलता के लिये कह सकते हैं कि भाषा एक व्यवस्था है जो समाज के सभी व्यक्तियों के मन में रहती है और वाक् उस व्यवस्था का उच्चारित रूप है। दूसरे शब्दों में, भाषा पद्धति है, वाक् उसकी उपलब्धि है, भाषा संस्था है, वाक् उसकी अभिव्यक्ति है। भाषा का यह द्विभाजन (डाइकॉटमी) सोसूर की महत्वपूर्ण देन मानी जाती है। अब भारतीय चिंतन में इसकी क्या स्थिति है, यह भी देख लें। भारतीय परम्परा में भाषा के चार रूप माने गये हैं—परा, पश्यंती, मध्यमा और बैखरी। यहां परा और पश्यंती की चर्चा अपेक्षित नहीं है। मध्यमा बुद्धिस्थ भाषा है और बैखरी करणस्थ भाषा, अर्थात् मध्यमा की स्थिति बुद्धि या मन में मानी जाती है और वेखरी की वागिंद्रियों में। मध्यमा वह है जो मन में स्थित होने के कारण अगोचर होती है, सुनायी नहीं पड़ती। इसके विपरीत बैखरी वह है जो श्रुतिगोचर होती है, सुनायी पड़ती है। एक अन्य प्रकार से इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि मध्यमा केवल अपने ज्ञान का विषय होती है, एक में स्व-संवेदन है, दूसरी में स्व-पर-संवेदन। अब देखें तो बात साफ हो जाती है कि सोसूर द्वारा निरूपित लाँग भारतीय चिंतन को मध्यमा ठहरती है और पारोल बैखरी। सोसूर लाँग और पारोल अर्थात् मध्यमा और वेखरी तक रुक गये, भारतीय मनीषा दो कोटि और पहले गयी, परा और पश्यंती तक।

सोसूर ने भाषिक अध्ययन को दो वर्गों में बांटा। एक को उन्होंने एककालिक (सिन्क्रॉनिक) कहा और दूसरे को अनेककालिक (डायाक्रॉनिक)। अनेककालिक को ही ऐतिहासिक भी कहते हैं। किसी भाषा का एक समय में जो रूप प्रचलित रहता है वह एककालिक अध्ययन का विषय होता है और अनेक समयों में भाषा के परिवर्तित रूप का अध्ययन अनेककालिक कहलाता है। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में भाषा के अनेककालिक अध्ययन का प्रचलन था। सोसूर की दृष्टि में वह भाषा का गौण अध्ययन है, अध्ययन का मुख्य विषय एककालिक ही होना चाहिये। इसकी तर्कसंगत परिणति यह है कि जो भाषाएं जीवित हैं और प्रयोग में आ रही हैं, उन पर अधिक ध्यान देना चाहिए। प्राचीन भाषाओं के अध्ययन से बौद्धिक कुतूहल की शांति तो हो सकती है किंतु व्यावहारिक लाभ क्या होगा? विज्ञान का एक तकाजा यह भी है कि वह सामयिक समस्याओं के समाधान में सहायक हो। चूंकि भाषाविज्ञान भी विज्ञान की संज्ञा पा चुका है, इसलिए उसे सामयिक भाषाओं के अध्ययन को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए और इसके लिए उसे

अनेककालिक अर्थात् ऐतिहासिक अध्ययन के बन्धन से मुक्त होना चाहिए। एककालिक और अनेक कालिक का भेद करते समय सोसूर इस तथ्य की कुछ दूर तक उपेक्षा कर देते हैं कि भाषा निरन्तर परिवर्तनशील वस्तु है, उसे सीमित अर्थ में ही स्थित्यात्मक (स्टैटिक) माना जा सकता है, नहीं तो वह लगातार विकसित (परिवर्तित) होती रहती है। अतः अतीत से सर्वथा काट कर भाषा को देखना संगत नहीं होगा। यहाँ सोसूर के सिद्धांतों की आलोचना मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं तो केवल यह दिखाने का प्रयास कर रहा हूं कि उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं कहा जो भारतीय चिंतन में चर्चित न हो चुका हो। भाषिक अध्ययन के जिन दो वर्गों का उन्होंने निर्देश किया है, वे भारतीय परम्परा में बहुत स्पष्टता से लक्षित होते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी एककालिक (सिन् क्रानिक) अध्ययन का सर्वोत्तम उदाहरण है। पाणिनि के समय में प्रयुक्त भाषा का ही इसमें सांगोपांग वर्णन है। यहाँ तक कि उस समय की संस्कृत में जो क्षेत्रीय भेद थे, उनका भी उल्लेख करने में पाणिनि नहीं चूके हैं। अनेककालिक अध्ययन के उदाहरण के रूप में वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' को रख सकते हैं। इसमें संस्कृत से प्राकृत का कैसे विकास हुआ है, इसका सुन्दर निरूपण है। तात्पर्य कि भारत में दोनों ही प्रकार के अध्ययनों की परिपाटी रही है और दोनों के एक से एक उत्कृष्ट नमूने वर्तमान हैं।

सोसूर की ये ही प्रमुख मान्यताएँ हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में इन मान्यताओं ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में बड़ा तहलका मचाया और सोसूर एक मसीहा के रूप में प्रतिष्ठित हुए। चूँकि पश्चिम में भाषावैज्ञानिक चिंतन प्रारम्भिक अवस्था में था, इसलिए उनके महत्त्व की स्वीकृति सर्वथा उचित थी किंतु भारतीय चिंतन की प्रौढ़ता से परिचित व्यक्ति को सोसूर की नूतन (?) मान्यतायें प्रभावित नहीं कर पातीं। फिर भी, यह मानना होगा कि पाश्चात्य भाषिक-विश्लेषण-पद्धति पर सोसूर का गहरा प्रभाव पड़ा और उसके परिणामस्वरूप भाषाविज्ञान न केवल स्वतन्त्र अनुशासन बना बल्कि भाषिक अध्ययन की नई दिशायें भी उद्घाटित हुईं। बीसवीं शताब्दी के भाषा-वैज्ञानिक विकास में सोसूर की निश्चय ही प्रशंसनीय भूमिका है।

बीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण में नोएम चोम्स्की बिजली की कौंध की तरह प्रकट हुए और उनकी आभा से सारा भाषावैज्ञानिक जगत्

चकाचौंध में पड़ गया। किसी व्यक्ति को सहसा इतना यश कभी ही मिलता है। चोम्स्की उन विरल भाग्यवानों में अन्यतम हैं, हालांकि यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उनके अंतरराष्ट्रीय यश का एकमात्र कारण उनकी भाषावैज्ञानिक देन ही नहीं है। उनके यश में उनकी राजनीतिक गतिविधि का भी उल्लेखनीय योगदान है। वियतनाम युद्ध के समय, जेल जाने का खतरा उठा कर भी, उन्होंने अमेरिकी नीति का विरोध किया। उस समय अमेरिका में वियतनाम युद्ध के विरोध में लहर उठ रही थी। उसमें शामिल होकर चोम्स्की सहज ही बहुत लोकप्रिय हो गए।

१९५० में चोम्स्की की पहली और साथ ही उनको सर्वाधिक यश देने वाली, कृति प्रकाश में आयी। नाम है "सिन्टैक्टिक स्ट्रक्चर्स" (वाक्यगत संरचनायें)। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, इसमें वाक्यगत संरचना का विचार है और चोम्स्की ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि भाषा में सबसे अधिक विवेच्य तत्त्व वाक्य ही है। उन्होंने वाक्य-विश्लेषण की जो पद्धति सुझायी है, उसके सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि संसार की सभी भाषाओं को उस पद्धति के सांचे में बैठाया जा सकता है।

इस निबंध में चोम्स्की की मान्यताओं की विस्तृत समीक्षा सम्भव नहीं होगी। मैं केवल यही बताने की चेष्टा करूँगा कि भारतीय भाषाविज्ञान के ज्ञाता के लिए, सोसूर की तरह, चोम्स्की में भी कुछ चौंकाने के लायक नहीं है।

चोम्स्की के उदय के पहले भाषाविज्ञान के क्षेत्र में ब्लूमफील्ड का बोल-बाला था और उनके शिष्यों-प्रशिष्यों की टोली सर्वत्र फैली हुई थी। चोम्स्की के गुरु जेलिग हैरिस भी ब्लूमफ़ील्ड की परंपरा के थे। ब्लूमफ़ील्ड के भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का हल्का-सा संकेत अपेक्षित है। ब्लूमफील्ड वाट्सन द्वारा प्रवर्तित (१९१३) व्यवहारवादी मनोविज्ञान के पक्षधर थे। स्वभावत: उन्होंने व्यवहारवादी मनोविज्ञान में मानदंड से भाषा के अध्ययन का उपक्रम किया। १९२० के आस पास व्यवहारवादी मनोविज्ञान का कुछ ऐसा प्रभाव था कि साहित्यलोचन तथा भाषालोचन जैसे विषयों में भी व्यवहारवाद का पल्ला पकड़कर कुछ कहने का फैशन चल पड़ा था। रिचर्ड्स ने अपने 'साहित्या-लोचन के सिद्धान्त" (प्रिंसिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म) नामक ग्रंथ में (१९२४) व्यवहारवाद की नींव पर ही अपनी आलोचना का प्रासाद खड़ा किया। इसी तरह ब्लूमफ़ील्ड ने भी अपने 'भाषा' (लैंग्वेज) नामक बहुचर्चित ग्रंथ में (१९३३) भाषिक विवेचन का मूलाधार व्यवहारवाद को ही बनाया।

उस समय प्रत्येक अनुशासन में वैज्ञानिक बनने या कहलाने की ऐसी उत्कट लालसा जगी थी कि साहित्य और भाषाशास्त्र जैसे विषय भी वैज्ञानिकता की होड़ में किसी से पीछे रहने को तैयार नहीं थे । किसी को इस बात का ख्याल नहीं था कि व्यवहारवाद या मनोविश्लेषणवाद मन के एक-एक पहलू का ही विचार प्रस्तुत करता है—संपूर्ण मन का अध्ययन किसी में नहीं है । अतः ऐसे आंशिक या अपूर्ण विज्ञान पर आश्रित विवेचन को वैज्ञानिक तो नहीं कहा जा सकता, उसे मान्य कहने में भी संकोच होगा । पाश्चात्य विचारणा की यह कमजोरी है कि बहुत बार किसी प्रश्न के सभी पक्षों का सम्यक् विचार किये बिना निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिये जाते हैं । फल यह होता है कि वे निष्कर्ष स्थायी नहीं होते । व्याकरण की ही लगभग एक दर्जन शाखाएँ अभी प्रचलित हैं—अमेरिका में वल्स का इमीजिएट कंस्टिट्युअंट अनेलिसिस, हैरिस का डिस्ट्रिब्यूशन अनैलिसिस, पाइक का डागमेटिकग्रामर आदि । भाषा के पक्ष-विशेष को लेकर लिखित इन व्याकरणों में उस विराट् दृष्टि का अभाव है जो पाणिनि की विलक्षणता है । यही कारण है कि कुछ ही दिनों में इन व्याकरणों की आभा मंद पड़ जाती है । स्वयं चोम्स्की को भी अपनी व्याकरणिक धारणा में अनेक बार परिवर्तन करने पड़े हैं, फिर भी व्याकरण में निर्दोषता नहीं आ पायी है । जैसा एक अमेरिकी भाषाविज्ञानी ने लिखा है : "आरंभ से ही चोम्स्की के कार्य से क्षोभ और खलबली की भावना जगी और कुछ क्षेत्रों में निराशा, विरोध तथा गलतफहमी भी पैदा हुई ।" तात्पर्य कि चोम्स्की के सिद्धान्त में कोई विशेषता नहीं थी जो उसे पूर्ण स्वीकृति के योग्य बनाती । इसलिये उससे यदि क्षोभ, निराशा या विरोध उत्पन्न हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं । चोम्स्की के सहयोगियों तथा छात्रों ने भी उनके दोषों को बड़ी कटुता से उभारा है और उनके सिद्धान्तों का खोखलापन दिखाया है । इसका प्रधान कारण है एकांगिता ।

ब्लूमफ़ील्ड के भाषिक विवेचन की दो प्रमुख त्रुटियाँ थीं । एक तो व्यवहारवादी मनोविज्ञान के अनुसार भाषिक व्यवस्था का उद्दीपन-अनुक्रिया (स्टिम्युलस-रेस्पॉन्स) के रूप में प्रतिपादन, दूसरी, भाषा के अविवेचन में अर्थ की उपेक्षा । बात यह थी कि अमेरिकी भाषाविज्ञान का प्रसार हुआ रेड इंडियन लोगों की भाषाओं के परिरक्षण के प्रयास से । रेड इंडियनों के बीच सैकड़ों भाषाएं बोली जाती हैं क्योंकि उनके कबीले सौ-पचास व्यक्तियों के भी होते हैं और धीरे-धीरे ये लुप्त होते जा रहे हैं या अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं । अतः भाषावैज्ञानिक दृष्टि से उनकी भाषा की रक्षा एक महत्व-

पूर्ण काम है। इस प्रसंग में दो बातें ध्यान में रखने की हैं : पहली बात यह कि रेड इंडियनों की भाषायें केवल दैनिक व्यवहार की भाषायें हैं, उनमें साहित्यिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक महत्त्व की चीजें नहीं हैं। अतः उनकी शब्दावली सीमित है और अभिलेखन आसान है। दूसरी बात यह कि तत्काल उन भाषाओं का केवल अभिलेखन आवश्यक है, विश्लेषण बाद में भी हो सकता है। इन दो सीमाओं के बीच विकसित भाषाविज्ञान केवल वाक् को अध्ययन का विषय मानें तो यह स्वाभाविक ही है क्योंकि वाक् के अतिरिक्त भाषाओं में विवेच्य है क्या ? दैनिक व्यवहार के कुछ सीमित वाक्यों में उद्दीपन-अनुक्रिया की संगति दिखाना भी कठिन नहीं है किंतु जिन भाषाओं का भांडार विविध, विपुल और विस्तृत है उन्हें उद्दीपन-अनुक्रिया के चौखटे में बाँधना असंभव है। केवल बोलचाल के काम में आनेवाली भाषाओं के आधार पर निर्मित सिद्धांत समृद्ध भाषाओं पर ठीक-ठीक लागू नहीं हो सकते (हालांकि तथाकथित आधुनिक भाषाविज्ञानी इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेगा। उसके अनुसार सभी भाषायें समान महत्त्व की हैं।) रामायण और महाभारत, कालिदास के काव्य, भवभूति के नाटक, सूर-तुलसी अथवा प्रसाद-पंत-निराला-महादेवी की रचनाओं का वाग्विस्तार उद्दीपन-अनुक्रिया के छोटे सांचे में कैसे अंट सकता है ? जैक और जिल की प्रतिक्रिया उद्दीपन-अनुक्रिया के सांचे में बैठ जाएगी मगर भाषा की इतनी ही सीमा तो नहीं है। और साहित्य, दर्शन, कला या विज्ञान में प्रयुक्त भाषा भाषा नहीं है यह कौन कहेगा ? पाणिनि के व्याकरण के दीर्घजीवी होने का अन्यतम कारण यह भी है कि उसकी व्यापक परिधि में भाषा के समस्त प्रपंच का समाहार हो जाता है।

चोमस्की ने भाषा के विश्लेषण में व्यवहारवादी मनोविज्ञान की उपादेयता को तो स्वीकार नहीं किया किंतु अर्थ की उपादेयता को भी स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार ब्लूमफील्ड की त्रुटियों से वे आधा ही मुक्त हो गए। अर्थ को भाषिक विश्लेषण से अलग कर देने पर क्या विश्लेषण का मूलाधार ही नष्ट नहीं हो जाता ? पशु-पक्षियों की भाषा से मनुष्य की भाषा का सबसे बड़ा अंतर यही तो है कि वह सार्थक होती है। अर्थ के अभाव में मनुष्य की भाषा और बैल या गदहे की भाषा में अंतर रह जाता है। यदि केवल ध्वनि का ही विश्लेषण अभिमत हो तो जैसी मानव-भाषा वैसी पशु-भाषा। किंतु मानव-भाषा का अध्ययन अर्थमूलक होता है, अर्थ ही भाषा का केन्द्रीय तत्त्व है क्योंकि संप्रेषण उसी से संभव होता है। अर्थ नहीं तो भाषा का

प्रयोग निरर्थक है। अमेरिकी भाषाविज्ञान की यह ऐसी सीमा है जो उसकी पूर्णता में सदा बाधक बनती रहेगी।

चोम्स्की की स्पष्टोक्ति है कि "भाषा के अर्थपरक अध्ययन के लाभ तथा महत्त्व के बावजूद, व्याकरणिक उच्चारणों के नियम-निर्धारण में उनकी कोई प्रत्यक्ष उपादेयता नहीं दिखाई देती। मैं समझता हूं कि हम यह मानने को बाध्य हैं कि व्याकरण स्वायत्त और अर्थ-निरपेक्ष है। फिर, अन्यत्र वे कहते हैं कि "व्याकरण का सर्वोत्तम सूत्रीकरण, अर्थविज्ञान से निरपेक्ष, स्वतः पूर्ण अध्ययन के रूप में ही होता है।" इसकी आवृत्ति चोम्स्की ने बार-बार की है किंतु १९६५ तक आते-आते उन्हें इसमें संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई और क्रमशः वे अर्थ की उपयोगिता के कायल होने लगे। परिणाम यह हुआ कि विगत पच्चीस-छब्बीस वर्षों के अन्तर उन्हें अपनी मान्यताओं में अनेक बार संशोधन करने पड़े। इसके समानांतर पाणिनि की अष्टाध्यायी को रखकर देखें तो उसकी गरिमा स्पष्ट हो जाती है। पिछले ढाई हजार वर्षों में उसमें कोई परिवर्तन अपेक्षित नहीं हुआ और एक से एक अलौकिक प्रतिभा के धनी विद्वान् उसकी विशेषताओं के उद्घाटन में ही अपने ज्ञान की चरितार्थता मानते रहे।

चोम्स्की ने भाषा के अध्ययन में अर्थ को अनावश्यक बताया। इसके प्रतिकूल पतंजलि की मान्यता है कि "सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे" अर्थात् शब्द नित्य है, अर्थ नित्य है और शब्द-अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। इसी को भर्तृहरि ने दुहराया कि "नित्याः शब्दार्थसंबंधाः"। बाद के व्याख्याताओं की बात छोड़ दें। स्वयं पाणिनि ने अपनी भाषिक मीमांसा में अर्थ की उपेक्षा नहीं की। "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" (१, २, ४५) या "समर्थः पदविधिः" (२. १. १) आदि सूत्रों में अर्थ की निर्भ्रान्त स्वीकृति है। पाणिनि के जैसा प्रमाणभूत आचार्य भाषा के विचार में अर्थ की अर्थात् भाषा की आत्मा की ओर से कैसे उदासीन हो सकता था? कहने की आवश्यकता नहीं कि चोम्स्की के चिंतन की मूलभित्ति ही कमजोर है। इसीलिए उन्हें विद्वानों के क्षोभ या विरोध का भाजन बनना पड़ा।

उनकी दूसरी सीमा है वाक्य पर अतिरंजित बल। "सिन्टेक्टिक स्ट्रक्चर्स" यह नाम ही बताता है कि उनकी दृष्टि में वाक्य का सबसे अधिक महत्व है। वाक्य का महत्व भारतीय भाषाशास्त्र में भी स्वीकृत है। भर्तृहरि की घोषणा है कि—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यंतं प्रविवेको न कश्चन ॥ २।७३

वाक्य ही भाषा की वास्तविक इकाई है। सच तो यह है कि न तो वाक्य में पद होते हैं, न पदों में वर्ण और वर्णों में खंड। पद और वर्ण की कल्पना तो भाषा सिखाने का साधन मात्र है।

आठ प्रकार के स्फोटों में वाक्यस्फोट ही पारमार्थिक है, शेष तो व्यावहारिक प्रयोजन के साधक हैं। इसलिए चोम्स्की का वाक्य को भाषा का सर्वस्व मानना कोई नई उद्‌भावना नहीं है।

वाक्य की संरचना के विचार-क्रम में चोम्स्की ने संज्ञापदबंध और क्रियापदबंध (नाउन फेज और वर्ब फेज) की कल्पना की है और कहा है कि यह व्यवस्था ऐसी है जिसके द्वारा संसार की सारी भाषाओं की व्याकरणिक संरचना का अध्ययन किया जा सकता है। चोम्स्की के संज्ञापदबंध और क्रियापदबंध को जो लोग आश्चर्य की दृष्टि से देखते है उन्हें यदि पाणिनि के सुबन्त और तिङन्त की अवधारणा का ज्ञान होता तो इसमें भी उन्हें कोई नवीनता दिखती। पाणिनि और चोम्स्की में केवल नाम का भेद है।

चोम्स्की का कहना है कि मनुष्य में भाषाविषयक दो क्षमतायें होती हैं—एक तो ग्रहण या बोध की, दूसरी उत्पादन या प्रयोग की। ये दोनों क्षमतायें मनुष्य में ही हैं और इसे वे मनुष्य की जैविक विशेषतायें मानते हैं। मनुष्य की ग्रहण की क्षमता को वे योग्यता (कॉम्पिटन्स) कहते हैं। इस स्थिति में भाषा अपनी सारी विशेषताओं के साथ मन में संचित रहती है। आवश्यकता पड़ने पर प्रयोक्ता इस संचित भाषा-राशि में से एक-एक अवयव को निकालकर, अन्वित रूप में पिरोकर, प्रयोग करता है। यह उसकी प्रयोग या व्यवहार (पर्फार्मेन्स) की क्षमता से संभव होता है। ये दोनों क्षमतायें परस्पर सम्बद्ध हैं। थोड़ा बिचार करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि चोम्स्की का कॉम्पिटन्स और पर्फार्मेन्स सोसूर का लाँग और पारोल है जो भारतीय मध्यमा और वैखरी वाक् का शाब्दिक रूपांतर मात्र है।

इस प्रसंग में चोम्स्की एक और बात का संकेत करते हैं, वह यह कि बच्चों में जन्मजात भाषिक क्षमता होती होगी, तभी उनके लिये सुनकर भाषा को सीखना संभव होता है। शिशु की भाषाग्रहण की क्षमता के संबंध में चोम्स्की अनुमान मात्र करके रुक जाते हैं। इसी को भर्तृहरि कितनी सफाई से और कितने तर्कसंगत ढंग से कहते हैं, यह देखने लायक है :

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रय ।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते ।।
आद्यः करणविन्यास प्राणस्योर्ध्वसमीरणम् ।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम् ।। —१/१२१-२२

लोक के समस्त कार्यकलाप भाषा पर ही निर्भर करते हैं, इस बात का संस्कार बच्चे में भी पहले से ही मौजूद रहता है। बोलने के लिये पहली बार वागिंद्रिय का संचालन, वायु को ऊपर की ओर फेंकना तथा विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण के लिए तत्तत् स्थानों का स्पर्श तब तक संभव नहीं है, जब तक मन में शब्द का अर्थात् भाषा का संस्कार न हो।

ध्यातव्य है कि चोम्स्की इतना भर कह पाते हैं कि बच्चों में भाषा की जन्म जात क्षमता होनी चाहिये किंतु इसको स्पष्ट नहीं कर पाते। इसके विपरीत भर्तृहरि बच्चे की भाषिक क्षमता के तीन तर्कपुष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं। यदि बच्चे में भाषिक क्षमता का संस्कार न होता तो अबोधावस्था में वह बोलने का प्रयास कैसे करता? उसे कैसे मालूम होता कि बोलने के लिये वायु को बाहर की ओर फेंकना जरूरी है? और, किस ध्वनि के उच्चारण के लिये किस स्थान का स्पर्श करना चाहिए, यह भी वह कैसे जानता? भाषा-ग्रहण की इन तीन प्रक्रियाओं का भर्तृहरि ने पन्द्रह सौ वर्ष पहले जैसा विशद वर्णन किया है, वह आधुनिक मनोविज्ञान की विकसित अवस्था में भी चोम्स्की के जैसा पंडित नहीं कर सका है।

चोम्स्की की पद्धति में एक शब्द आता है प्रजनक (जेनरेटिव)। इसी के आधार पर उनके व्याकरण को प्रजनक व्याकरण कहते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक भाषा का प्रयोक्ता अपनी भाषा के सीमित शब्द-भांडार को, साथ ही उन शब्दों के संयोजन के सीमित नियमों को भी जानता है। ये नियम ही किसी भाषा का व्याकरण कहलाते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि सीमित शब्द-भांडार और सीमित व्याकरणिक नियमों की सहायता से वक्ता असीम वाक्यों को प्रजनित (जेनरेट) कर सकता है। यह क्षमता मनुष्य की सबसे बड़ी भाषिक विशेषता है। चोम्स्की इस पर आश्चर्य करते हैं कि मनुष्य ऐसा कैसे कर लेता है। भारतीय पद्धति में इसे आवाप-उद्वाप कहा गया है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में शिशु के भाषिक अर्जन (लेंग्वेज ऐक्विजिशन) को आवाप-उद्वाप द्वारा ही स्पष्ट किया गया है। आवाप उद्वाप का अर्थ है रखना और हटाना। वरिष्ठ व्यक्ति जब कनिष्ठ से कहता है कि "किताब लाओ" तो शिशु इसे सुनता है और देखता है कि

कनिष्ठ एक चीज पास लाया। फिर दूसरा वाक्य उसके कान में पड़ता है—"किताब ले जाओ, कलम लाओ"। अब वह देखता है कि वह चीज वहां से हटायी जा रही है और एक दूसरी (कलम) चीज पास लायी जा रही है। फिर वह सुनता है—"कलम ले जाओ, पानी लाओ"। इस प्रकार कुछ ध्वनि-समूहों (लाना, ले जाना आदि) के साथ वह कुछ चेष्टाएँ भी देखता है, धीरे-धीरे अनुमान द्वारा ध्वनिसमूहों के साथ वस्तुओं और क्रियाओं का संबंध मन में बैठाता है। बार-बार की आवृत्ति से यह संबंध दृढ़ और स्थायी होता जाता है। बाद में सुने हुए ढंग से वह भी उन ध्वनियों का प्रयोग करता है, कभी एक शब्द को रखकर, कभी उसे हटाकर, कभी उसके बदले में दूसरे शब्दों को रखकर। इसमें उससे जहाँ भूल होती है, वहाँ बुजुर्ग भूल सुधार देते हैं। इसी को भर्तृहरि ने आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते कहा है अर्थात् बार-बार की आवृत्ति से शब्द परिपक्व होकर मन में स्थिर हो जाते हैं और प्रयोग के समय सहज भाव से सामने आ जाते हैं। आवृत्ति से शिशु केवल शब्दों को ही नहीं सीखता, उनके संयोजन की विधि को भी सीखता है। आवाप-उद्वाप के द्वारा यह चीज इतनी मज जाती है कि न तो वह शब्दों के चयन में भूल करता है और न उनके विन्यास-क्रम में। यही कारण है कि सीमित शब्दों और सीमित नियमों की सहायता से अनंत वाक्यों के प्रजनन की क्षमता विकसित हो जाती है। वाक्यों के प्रजनन में आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति की भूमिका का निरूपण यहां संभव नहीं है। उनकी व्याख्या से प्रजनक व्याकरण की उलझन काफी सुलझ जाती है। मेरा अभिप्राय यह है कि प्रजनक व्याकरण की अवधारणा भी मौलिक नहीं है। जो बात भारतीय परंपरा में सूत्ररूप में कही गयी है, उसे ही चोम्स्की ने विस्तार से प्रस्तुत किया है।

चोम्स्की की एक और मान्यता का उल्लेख कर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा। चोम्स्की का कहना है कि किसी भाषा में कौन-सा प्रयोग व्याकरण सम्मत (ग्रेमेटिकल) है और कौन-सा व्याकरणविरुद्ध (अनग्रेमेटिकल) इसका निर्णय करना उस भाषा के नेटिव स्पीकर—जन्मजात वक्ता या अहल-ए-जबां—का काम है अर्थात् जिसकी वह प्रथम भाषा या मातृभाषा है। इस कथन में असंगति तो नहीं है पर संशोधन की आवश्यकता है। जन्मजात वक्ता सामान्य प्रयोगों के बारे में कह सकता है कि यह ठीक (व्याकरण-सम्मत) हैं और यह गलत (व्याकरणविरुद्ध) पर ऐसे बहुत सारे स्थल आते हैं जहाँ यह निर्णय कठिन हो जाता है कि किसे ठीक मानें और किसे गलत।

इसके लिये भाषा-विषयक अंतः प्रज्ञा (इन्ट्यूशन) ही काफी नहीं है, भाषा की प्रकृति, परंपरा, व्याकरणिक नियमों के साधक-बाधकभाव का ज्ञान भी आवश्यक है। इसलिये भारतीय शब्दशास्त्र शुद्धाशुद्ध के निर्णय के लिये शिष्ट व्यक्ति को प्रमाण मानता है। शिष्ट का अर्थ है अधीती, सुसंस्कृत, प्रयोग-मर्मज्ञ। यह शिष्ट शब्द महाभाष्य और वाक्यपदीय में बार-बार आया है।

मैंने सोसूर और चोम्स्की की समीक्षा को कतिपय प्रमुख मान्यताओं तक ही सीमित रखा है और बहुत सारी सूक्ष्म-गंभीर भारतीय मान्यताओं का निरूपण तो दूर, स्पर्श तक नहीं किया है। इस सीमित समय में इससे अधिक संभव भी नहीं था। मुझे आशा है कि इस चर्चा से अध्येताओं तथा अनुसंधाताओं की भारतीय भाषाशास्त्र में रुचि होगी और वे पश्चिम के मोह से मुक्त होकर वस्तुनिष्ठ अनुशीलन में प्रवृत्त होंगे।

भरत का निर्वचन-चिन्तन

डा. रामगोपाल मिश्र

निर्वचन प्रक्रिया का प्रारम्भ चिरवन्दिता वाक् ईश-निश्वास ऋग्वेद से होता है और यह प्रक्रिया अनवरत गति से प्रवाहमयी रही है। व्याकरण की सूक्ष्मेक्षिका से दूर अर्थावबोध को ध्यान में रखकर ऋषियों ने पदों का निर्वचन प्रदान किया है। 'महाकविर्निर्वचनानि शंसन्' (ऋ. ६.६७.२) के द्वारा ऋषि अपनी निर्वचन-प्रिय भावना को ही प्रकट करता है। 'धेनुर्वाक्' का मूलतत्त्व दुग्ध-अर्थ है। इसी अर्थ की प्रतीति सुगमता से ही-निर्वचन चिन्तन को जन्म देती है जिसका शास्त्रीय और गम्भीर-विवेचन यास्क के 'निरुक्त' में उपलब्ध है।

मुनि भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' में समस्त ललित कलाओं का पहली बार सांगोपांग विस्तृत विवेचन हुआ है। इसीलिए इसे ललित कलाओं का विश्व-कोष कहा जाता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र के अध्ययन से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि भरत के पूर्व ऐसे अनेक ग्रन्थ थे, जिनमें ललितकलाओं का विवेचन था, परन्तु नाट्यशास्त्र के पश्चात् उनका अस्तित्व विलीन हो गया। नाट्यशास्त्र के आधार पर ही परवर्ती काल में अनेक सिद्धान्तों का विकास हुआ, जिनका सूक्ष्म रूप नाट्यशास्त्र में अवश्य उपलब्ध है। नाट्यशास्त्र के छत्तीस अध्यायों में साहित्य, संगीत और कला से सम्बन्धित सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन हुआ है। इस विवेचन के प्रसंग में आए अन्य विषयों का तलस्पर्शी विवेचन उपलब्ध होता है, जिनमें व्याकरण, निर्वचन आदि हैं। भरत का मुख्य प्रतिपाद्य नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का विमर्श था, इसलिए अन्य तत्त्वों को प्राथमिकता प्राप्त न हो सकी, परन्तु जिन तत्त्वों का संस्पर्श आचार्यप्रवर की तूलिका से हुआ है, वे भी प्रोद्भासित हुए हैं।

नाट्यशास्त्र में निरुक्त या निर्वचन का विवेचन शास्त्रीय लक्षण के आधार पर पहली बार हुआ है क्योंकि यास्क कृत 'निरुक्त' में निरुक्त का लक्षण नहीं मिलता है। अतः निरुक्त का शास्त्रीय लक्षण प्रदान करने का प्रथम श्रेय मुनि भरत को ही है जिन्होंने दो सन्दर्भों में निर्वचन का विचार किया है।

नाट्यप्रयोग को अभिनय की दृष्टि में सफलतम प्रदर्शित करने के लिए नाट्यकोविद भरत ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रंग—कुल ग्यारह तत्वों की गणना और उनका प्रायः इसी क्रम से शास्त्रीय विमर्श किया है। गणना के पूर्व मुनि का प्रतिज्ञा वाक्य है कि वे प्रत्येक तत्त्व का संग्रह, कारिका और निरुक्त के आधार पर करेंगे। यथा—

'अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः।
संग्रहं कारिकां चैव निरुक्तं च यथाक्रमम्॥

भरत के मुनियों ने भी भरत से इसी दृष्टि से कथन करने का अनुरोध किया था।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार संग्रह, कारिका और निरुक्त को अन्य शास्त्रों में क्रमशः उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा कहा गया है।[2] वास्तव में उनकी यह दृष्टि किंचित् साम्य के आधार पर है। संग्रह और कारिका का कथन करने के अनन्तर भरत दो श्लोकों में निरुक्त का लक्षण प्रस्तुत करते हैं:—

'नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुनिगमान्वितम्।
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम्॥
स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते॥[3]

अनेक प्रकार के नाम के आश्रय से उत्पन्न, निघण्टु और निगम से अन्वित क्रिया और कारक से युक्त, अनेक प्रकार के सिद्धान्तों से साधित, संक्षेप रूप से अर्थ का सूचक, धात्वर्थ वचन के द्वारा जो स्थापित किया जाता है, उसको 'निरुक्त' कहते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने भरतप्रोक्त निरुक्त के इस लक्षण को दो भागों में विभाजित कर, उसका सही अर्थ प्रस्तुत करने का स्तुल्य प्रयत्न किया है। उनके अनुसार प्रथम श्लोक में प्रयुक्त चार विशेषणों के द्वारा निरुक्त का 'स्वरूप-लक्षण' प्रस्तुत किया गया है और द्वितीय श्लोक का

---

१. ना. शा. ६. ३

२. ना. शा. ६. ३. पर अभिनवभारती—
'संग्रहादिभ्य उद्देश्यलक्षणपरीक्षादिषु प्राधान्यात्'

३. ना. शा. ६. १२-१३

'तटस्थ-लक्षण' के रूप में मानकर उसका विवेचन किया है और उसके बाद प्रथम श्लोक का।

निरुक्त के लक्षण से सम्बन्धित दोनों श्लोकों का सही अर्थ अद्यावधि अज्ञात है, विशेषकर द्वितीय श्लोक में दो बार 'अर्थ' पद का प्रयोग और इसी प्रकार प्रथम में 'धात्वर्थ हेतु संयुक्तं' और दूसरे में 'धात्वर्थवचनेनेह' के प्रयोग से भ्रम उत्पन्न हुआ है। अभिनवगुप्त ने दो स्थानों पर प्रयुक्त "अर्थ:' पद के काठिन्य का निराकरण 'अर्थसूचक:' में अर्थ पद का अर्थ लक्षणीय मानकर और 'ख्यापितोऽर्थ:' में अर्थ पद का अर्थ लक्षक मानकर किया है। यथा—

'समासेन संक्षेपेणानेकव्यक्तिभेदभिन्नस्य अर्थस्य लक्षणीयस्य यः सूचकोऽर्थो लक्षणात्मकः स यत्राक्षेपप्रतिसमाधान-लक्षणे वस्तुनि सति ख्यापितो भवति तत्परीक्षारूपं निरुक्तम्'।[1]

उनके अनुसार द्वितीय श्लोक में निरुक्त की परिभाषा न होकर अर्थमात्र है।[2] प्रथम श्लोक में चार—'उत्पन्नम् अन्वितं,' 'संयुक्तं,' 'साधितं,' क्तप्रत्ययान्त पदों का प्रयोग हुआ है। अभिनवगुप्त इन पदों का अर्थ भावप्रत्यय में, उत्पादः, अन्वयः, संयोजनं, साधनं,—करते हैं।

कतिपय विद्वानों ने धात्वर्थवचन' और 'धात्वर्थहेतुसंयुक्त' के अर्थसाम्य को इंगित किया है और इनके अर्थपार्थक्य में सन्देह करते हैं।[3] तथा दोनों श्लोकों का निम्न अनुवाद करते हैं:—

A nirukta (etymological explanation) is based on the various nominal forms used in the definition, contains (Justifications from) dictionaries and grammatical analyses as well as (considerations) of the meanings of the verbal roots and of the syntactic relations involved and takes into account differing views.

When the meaning (of a particular word) which (in tnrn) throws light on the meaning (of the whole sentence,) is established by giving the meaning of the root (from which this

१. ना. शा. अ. भा. पृ० २६४-६५

२. ना. शा. अ. भा. पृ. २६५

3. Aesthetic Rapture Vol. ii. pp. 60

"We are not certain of our translation of these two verses. Is there any differenee between धात्वर्थवचन' in verse 13 and 'धात्वर्थहेतुसंयुक्तम्' in verse 12"

particular word is derived) that is called a निरुक्त (etymological explanation)[1]

निरुक्त के लक्षण से सम्बन्धित दोनों श्लोकों का अनुवाद व्याख्या सापेक्ष है। आचार्य विश्वेश्वर ने भी हिन्दी अनुवाद कोष्ठान्तर्गत व्याख्या से ही किया है।[2]

'अनेक प्रकार के जो नाम [अर्थात् प्रातिपदिक अथवा सुबन्त पद] उनके आश्रय से उत्पन्न [इस लक्षण में अमुक पद का प्रयोग क्यों किया गया है इस प्रकार पदकृत्य की विवेचना पूर्वक परीक्षा की प्रवृत्ति होती है, यह बात प्रथम विशेषण द्वारा सूचित की]। २ [इन नाम पदों में भी कोई रूढ़ि पद तथा कोई यौगिक पद होते हैं, परीक्षा में अनेक इन रूढ तथा यौगिक अर्थो का विवेचन किया जाता है] रूढि [निघण्टु] तथा यौगिक [निगम अर्थों की विवेचना] से युक्त, ३ [लक्षण में कहीं कहीं क्रिया तथा कारक आदि विवेचन की भी आवश्यकता होती है] क्रिया [धात्वर्थ तथा उस क्रिया के हेतु रूप] कारक [की विवेचना] से युक्त, ४ नाना प्रकार के [पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के वादियों द्वारा स्वीकृत सर्वतन्त्र या प्रतितन्त्र आदि रूप] सिद्धान्तों से साधित लक्षण की आक्षेप-प्रतिसमाधान पूर्वक परीक्षा को निरुक्त कहते है।

निरुक्त का मुख्य प्रयोजन संक्षेप से अर्थ का निर्णय करना है।[3] इसी उद्देश्य को लेकर निरुक्त आगे बढ़ता है। कभी उस अर्थ की प्रतिपत्ति का आश्रय नाम अर्थात् सुबन्तादि पद होते हैं, तो कभी तन्त्रों के आधार पर अर्थावबोध कराया जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस लक्षण के आधार पर चार प्रकार के निरुक्त का सोदाहरण विवेचन किया है।

१. प्रातिपदिक [नाम] के द्वारा निर्वचन—जैसे 'उलूखल' पद है। इसका निर्वचन जिसके ऊपर आकाश है अर्थात् 'ऊर्ध्वं खम् अस्य इति' यहां ऊर्ध्व और खं ये दोनों नामपद हैं। उलूखल (ओखली) पद का यह निर्वचन 'नानानामाश्रयोत्पन्नं के आधार पर ही प्रस्तुत किया गया है।

२. धातु के द्वारा निर्वचन—जैसे 'रस' पद का निर्वचन 'रस्यते इति रसः' से किया जाता है। यहां 'रस्यते' यह क्रियागत निर्वचन है। मुनि भरत ने भी 'रस इति कः पदार्थः ?' के द्वारा रस पद का अर्थ ही पदार्थ माना है।

---

1. Aesthetic Rapture, Vol. i, pp. 44
८. हिन्दी अभिनवभारती पृ० ४२२-२३
६. अभिभा. पृ. २६५. (६. १२) 'निरुक्तस्य तु प्रयोजनं संक्षेपेणार्थावधारणम्"

३. नाम तथा धातु के आश्रय से निर्वचन—पद का निर्वचन करते समय कभी कभी नाम और धातु अर्थात् दोनों के आधार पर निर्वचन किया जाता है। जैसे 'पिशाच' पद का निर्वचन 'पिशितम् अश्नातीति पिशाचः' ही है। पिशित यह नाम पद है जिसका अर्थ कच्चे मांस को खाने वाला होता है और 'अश्नाति' क्रिया है।

४. संकेत [समय] के आधार पर—संकेत के आधार पर निर्वचन तीन प्रकार का होता है।

१. लौकिक—यथा भू सत्तायाम्।

२. वैदिक—यथा दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः।

३. प्रतिशास्त्रपार्षदः— जैसे गान्धर्व वेद में ओवेणक शब्द।

संकेतात्मक निर्वचन का सम्बन्ध अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के 'नानासिद्धान्तसाधितम्' से है।[1]

नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने रस, भाव, अभिनय, वृत्ति, प्रवृत्ति, जर्जर, निपात, प्रत्यय, सन्धि, दर्दर, मृदङ्ग, भाण्ड, नन्दी, नायक आदि पदों का निर्वचन प्रदान किया है। अर्थसम्प्रत्यय ही निर्वचन की परिधि है। व्याकरण शास्त्र में शब्द के साधुत्व पर विचार किया जाता है तो निरुक्त शास्त्र में अर्थदृष्टि से अवगतन संस्कार में व्याकरण दृष्टि रहती है तो अनवगत संस्कार पर निरुक्त अर्थदृष्टि से विचार करता है। नाट्यशास्त्र के वाचिक अभिनय-नामक चौदहवें अध्याय में स्वरों, व्यञ्जनों का परिपूर्ण विवेचन किया गया है। इसी प्रकार सत्रहवें अध्याय में प्राकृत भाषा का विवेचन है।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में 'भूषण सम्मत' छत्तीस लक्षणों का विवेचन किया है। प्रत्येक लक्षण के दो अलग अलग पाठ मिलते हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में दोनों का संकलन किया है। भरत ने मात्र लक्षणों का लक्षण ही प्रस्तुत किया है। छत्तीस लक्षणों में 'निरुक्त'

---

१. अभिनवभा. पृ. २६५. "निरुक्तमपि चतुर्धा नाम्ना वा ऊर्ध्वे खमस्योलूखलः। धातुना वा रस्यत इति रसः। द्वाभ्यां वा पिशितमश्नातीति पिशाचः। समयेन च। सोऽपि त्रिधा। लौकिको यथा भू सत्तायाम्। वैदिको यथा दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः, वेवीङ् वेतिना तुल्ये। प्रतिशास्त्रपार्षदं यथा गान्धर्ववेदे गीतकविशेषे ओवेणकादिशब्दः। तदेतदुक्तं नानेत्यादिना।"

को भी भरत एक लक्षण मानते हैं और प्रथम पाठ के अनुसार उसका निम्न लक्षण करते हैं:—

'निरुक्तं द्विविधं प्रोक्तं तथ्यं चातथ्यमेव च ।
सिद्धिपूर्वं भवेत्तथ्यमतथ्यं चाप्रसाधितम् ।।

ना. शा. १६. १२

निरुक्त दो प्रकार का कहा गया है, एक तथ्य और दूसरा अतथ्य । सिद्धि के द्वारा प्रसाधित निरुक्त तथ्य है और जो अप्रसाधित है, उसे अतथ्य निरुक्त कहते हैं ।

इस कारिका में निरुक्त की परिभाषा न होकर उसके भेदों का निरूपण है । भरत के अनुसार तथ्य निरुक्त व्याकरण के नियमों से अनुगम होता है। इसे ही यास्काचार्य ने अवगत संस्कार कहा है । सिद्धि पद का अर्थ अभिनव-गुप्त लक्षण करते हैं अर्थात् जो निरुक्त व्याकरणनियमानुगामी होता है, वह निरुक्त का प्रथम प्रकार है । 'तथ्य' निरुक्त का मूल शब्दसाधुत्व है । परन्तु 'अतथ्य' निरुक्त लक्षणरहित, अनवगत संस्कारात्मक होता है अर्थात् वह व्याकरण के नियमों की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु अर्थावगति के लिए स्वयं चिन्तन करता है । अभिनवगुप्त ने इसे 'सिद्धिर्लक्षणेन स्वीकारः । तथा प्रसाधितं तथ्यं, ततोऽन्यदतथ्यम्' कहा है ।

द्वितीय पाठ के अनुसार निरुक्त का निम्न लक्षण है—

निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये ।
यदुच्यते तु वचनं निरुक्तं तदुदाहृतम् ।।

ना. शा. १२

जहाँ पहले कहे गए अर्थ की सिद्धि के लिए निरवद्य वाक्य को कहा जाए, उसे निरुक्त कहते हैं ।

भरत के पश्चात् छत्तीस लक्षणों के विवेचन के समय परवर्ती आचार्यों ने निरुक्त का सोदाहरण विमर्श किया है । भोजराज, शारदातनय, शिङ्ग-भूपाल, सागरनन्दी आदि आचार्यों ने नाट्यशास्त्र के द्वितीय पाठ के आधार पर उसका विचार किया है, तो विष्णुधर्मोत्तर चन्द्रालोक आदि में प्रथम पाठ अपनाया गया है ।

प्रथम पाठ:—

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार निरुक्त का प्रमुख प्रयोजन अर्थसिद्धि है । यह निरुक्त सिद्ध और औत्पत्तिक के आधार पर दो प्रकार का होता है । यथा—

'नैरुक्तं द्विविधं विद्धि सिद्धमौत्पत्तिकं तथा ।
निर्वक्तव्यं तु तत्सिद्धमर्थसिद्धिस्तु सर्वदा ।।

विष्णुधर्मोत्तर ५. १६.

सिद्ध निर्वचन ही भरत का तथ्य निर्वचन है। भरत ने जिसे अतथ्य निर्वचन कहा है उसे ही विष्णुधर्मोत्तर में औत्पत्तिक कहा गया है। अर्थात् जहाँ चिन्तक अपनी शेमुषी के आधार पर नया निर्वचन अर्थसिद्ध्यर्थ देता है, जैसे गौः, अश्वः आदि पद। गच्छतीति गौः, अश्नाति मार्गमिति अश्वः यही अतथ्य या अनवगत-संस्कारात्मक निरुक्त है। औत्पत्तिक निरुक्त वक्ता की विवक्षा पर आधारित है, जैसे कालिदास राजा का निर्वचन 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्" 'रञ्ज्' धातु से करते हैं।

जयदेव चन्द्रालोक में भरत के आधार पर ही निरुक्त का निम्न लक्षण करते हैं—

'निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथानृतम् ।
ईदृशैश्चरितै राजन् सत्यं दोषाकरो भवान् ।।

चन्द्रालोक ३. ६.

'जहाँ सत्य तथा मिथ्या रूप से पदों का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बतलाया जाए, उसे निरुक्त कहते हैं।' व्याकरण से व्युत्पत्ति होने पर सत्य निरुक्त होता है। सत्य निरुक्त ही भरत का तथ्य निरुक्त है। व्याकरण नियम से रहित अन्य व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ को मिथ्यानिरुक्त कहते हैं। भरत के 'अतथ्य निर्वचन' को जयदेव ने मिथ्यानिरुक्त कहा है।

द्वितीय पाठः—

राजा भोज शृंगारप्रकाश में छत्तीस लक्षणों का विवेचन करते समय अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक से 'प्रिय बोलने के कारण तुम प्रियंवदा हो' शकुन्तला के कथन को उद्धृत करते हैं।[1] राजा भोज का पाठ अक्षरशः भरत का ही पाठ है।[2] यह तथ्य, सत्य निर्वचन है। राजा के माध्यम से

१. शृ. प्र. द्वि. भा. पृ. ५३२, यथाभिज्ञानशाकुन्तले (संस्कृत छाया) सखि ! शकुन्तले ! अत्रैव तावत् मुहूर्तं तिष्ठ। यावत्त्वया उपगतया लतासनाथ इव केसरवृक्षः प्रतिभाति।
शकुन्तला—अतः खलु त्वं प्रियंवदा !
राजा—प्रियमपि तथ्यमाह।

२. शृ. प्र. द्वि. भा. पृ. ५३२

'तथ्यमाह' के द्वारा कालिदास का भी अभिमत मत है।

शारदातनयकृत भावप्रकाशन में[1] निरुक्तियों का बाहुल्य है। उनका लक्षण भरत का है। जैसे—

इसके पूर्व उन्होंने निर्वचन अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया है, उस का विवेचन किया है। यथा—

'अर्थतश्च निरुच्यन्ते शब्दाः केचिच्च धातुतः।
वचनाच्च निरुच्यन्ते शब्दाः केचिच्च योगतः॥
अप्यक्षराणां सामान्यान्निरुच्यन्ते च केचन।
एवं निरुक्तकारैस्तु स्वशास्त्रे निर्णयः कृतः॥[2]

रसार्णवसुधाकर में शिङ्गभूपाल ने भावप्रकाशन का लक्षण दिया है और उदाहरण भोज प्रदत्त अभिज्ञानशाकुन्तल से है।[3] वे इस उदाहरण में नाम निर्वचन मानते हैं।[4]

आचार्य विश्वनाथ साहित्य-दर्पण में भरत का अनुसरण करते हैं, परन्तु उनकी कारिका भिन्न है। यथा—

'पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते।

सा. द. ६. १८६

'नाटकलक्षणरत्नकोश' कार सागरनन्दी ने निरुक्त का निम्न विवेचन किया है—

'निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये।
पदस्य वा तथाभूतं निरुक्तमिति निर्दिशेत्॥[5]

उनके अनुसार निरुक्त का निम्न उदाहरण है—

'क्षतात् त्रायत इत्येष क्षत्रियो हि निरुच्यते॥

यहां क्षत्रिय पद का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में समुपलब्ध दोनों पाठों के आधार पर अपनी अपनी मनीषा के आधार पर विवेचन हुआ। फलतः प्रथम पाठ में पूर्ण रूप

---

१. भाव प्रकाशन (बड़ौदा संस्करण) पृ. २२४

२. भा. प्र. पृ. ५०

३. रसार्णवसुधाकर ३. ११५ :

४. 'वही, तत्रैव, 'अत्र प्रियंवदायाः प्रियभाषणादिदं नामधेयमित्युक्ति-निरुक्तिः।

५. ना. ल. र. को. १६१

से निर्वचन का विवेचन हुआ और द्वितीय पाठ में निर्वचन के साथ साथ लक्षण वैचित्र्य भी अनुस्यूत किया गया। भरत ने व्याकरणसाध्य निर्वचन को तथात्मक माना तथा व्याकरणहीन को अतथ्य या मिथ्या कहा। नाट्यशास्त्र में व्याकरण के आधार पर ही रसभावादि पदों का निर्वचन प्रस्तुत किया है। इसीलिये उन्होंने अनेकत्र 'निरुक्तयुक्त्या' कहकर पदों का अभिप्रेतार्थ प्रकट किया है। तत्त्वविद मुनि भरत ने सर्व प्रथम निरुक्त की परिभाषा और अनेक पदों का निर्वचन प्रस्तुत किया है। अर्थप्रतीति की समस्या को स्वतंत्र रूप से निरुक्ति द्वारा सुलझाने की चेष्टा ही निरुक्तशास्त्र की भूमिका है और कविगण अपने प्रातिभचक्षु से साक्षात्कृत अतीत-अनागत भावों को प्रकट करते हैं और अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये कभी कभी व्याकरण की उपेक्षा का निर्वचन कर आश्रय लेते हैं।

संकेत-ग्रह एवं आशाधरभट्ट

जगदीश प्रसाद मिश्र

अभिधा के सन्दर्भ में सभी काव्यशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि संकेत की सहायता से ही कोई शब्द किसी अर्थ का वाचक होता है। इसका अभिप्राय है कि शब्द का संकेत किसी अर्थ में निहित होता है, जहां शब्द संकेत होता है और अर्थ संकेतित।

यहां प्रश्न यह उठता है कि शब्द अर्थ को किस रूप में संकेतित करता है? इस प्रश्न के उठने का कारण यह है कि अर्थ कभी तो नाम से जाना जाता है, कभी गुण से, कभी जाति से तो कभी क्रिया से। इसके अतिरिक्त भी अन्य कई प्रकार से अर्थ समझा जा सकता है। फिर शब्द इनमें से किसको संकेतित करता है? एक ही साथ वह सबको तो संकेतित कर नहीं सकता। अतः इनमें से किसी एक को ही संकेतित करने की क्षमता उसमें होती है। उसी को हम शब्द का प्रथम अर्थ अर्थात् 'शब्द से साक्षात् रूप से सम्बन्धित अर्थ' कहेंगे। उससे अन्य अर्थ संकेतित न होकर परम्परा से सम्बद्ध माने जायेंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे समक्ष नैयायिक, मीमांसक, बौद्ध एवं वैयाकरणों की अपनी-अपनी मान्यताएँ उपस्थित होती हैं।

इस सम्बन्ध में विचार करने पर सबसे पहले अर्थ का जो स्वरूप हमारी पकड़ में आता है वह है—व्यक्ति, जिसका अभिप्राय है अर्थ का अकेला स्वरूप अथवा इसकी इकाई, क्योंकि व्यवहार में आने वाला अर्थ का स्वरूप व्यक्ति ही होता है—इसी को 'अर्थक्रियाकारिता' कहते हैं। अर्थात् दुग्ध रूप प्रयोजन की प्राप्ति के लिए जब क्रियाशील होता है तो उस क्रिया का आस्पद अर्थ की एक इकाई ही होती है। उदाहरणतः दुग्ध रूपी प्रयोजन की प्राप्ति के लिए दोहन क्रिया का आस्पद कोई एक गाय ही हो सकती है—सभी गायें नहीं। इसलिए नव्य नैय्यायिकों ने शब्द का संकेतग्रह व्यक्ति में माना है। जिसका अभिप्राय यह है कि कोई भी शब्द व्यवहित होने पर सबसे पहले 'व्यक्ति रूप अर्थ' का ही बोध कराता है। अतः संकेतग्रह व्यक्ति विशेष में ही होना चाहिए, किन्तु व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर कई दोष उपस्थित होते हैं, जैसे—पहला आनन्त्य, जिसका अर्थ यह है कि किसी भी अर्थ के

'व्यक्ति' अनन्त होते हैं, अतः व्यक्ति रूप से उनका बोध कराने के लिए अनंत संकेतों की आवश्यकता पड़ेगी जिससे गौरव दोष होगा। अभी तो उन अनन्त व्यक्तियों को हम एक शब्द से समझते रहे हैं। केवल 'गो' शब्द के प्रयोग से भूत, भविष्य तथा वर्तमान की अनेक गायों का अर्थ ग्रहण किया जाता है। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से किसी एक ही गाय को हम 'गाय' की संज्ञा दे सकेंगे ? 'गाय' शब्द से सभी गायों का बोध नहीं कर पायेंगे।

दूसरा दोष जो इस प्रसंग में पड़ेगा वह है व्यभिचार, क्योंकि 'गौर्दुग्धं ददाति' तथा कम्बुग्रीवादिमान् घटो भवति' इत्यादि स्थलों में 'गौ' और 'घट' पद व्यक्ति के बोधक न होकर जाति के स्मारक हैं। अतः उक्त नियम का उल्लंघन होने से इसे व्यभिचार दोष कहा जायेगा।

तीसरी कठिनाई एक ओर उपस्थित होगी, वह है शब्दों का परस्पर विषय-विभाग, जो नहीं हो पायेगा, क्योंकि सभी शब्दों के व्यक्तिपरक होने से संज्ञावाचक, जातिवाचक, गुणवाचक एवं क्रियावाचक—सभी शब्दों का मात्र एक अर्थ होगा। व्यक्तिविशेष जिसमें कोई अन्तर नहीं होगा। इसलिए प्राचीन नैयायिकों ने जाति विशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह मानना उचित समझा इस प्रकार 'गो' शब्द का संकेतित अर्थ 'गोत्वजातिविशिष्ट' गो व्यक्ति होता है। मीमांसकों को इस पर इसलिए आपत्ति है कि शब्द कभी-कभी केवल जाति का ही बोध कराता है, व्यक्ति आदि वहाँ गौण हो जाते हैं। ऐसे स्थलों में जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से व्यवहार नहीं बनेगा तथा 'गौरव' भी पड़ेगा, क्योंकि केवल जाति में संकेतग्रह मान लेने से ही 'जहां व्यक्ति' भी अभीष्ट है लक्षणा के द्वारा उसका ग्रहण हो जायेगा। क्योंकि लक्षणा को स्वीकार किया ही जा चुका है। किन्तु बौद्ध लोग इसे स्वीकार नहीं करते, क्योंकि जाति नित्य होती है। इसलिए उसमें संकेतग्रह मानने से नित्यता का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः उन्होंने अपोह में संकेतग्रह माना है। अप पूर्वक 'ऊह' धातु से निष्पन्न अपोह शब्द इस बात को बताता है कि 'संकेतग्रह के सम्बन्ध में बुद्धि में उलटी प्रक्रिया कार्य करती है। जैसे गो शब्द का संकेत ग्रह अपोह में इसलिए होता है कि गो से भिन्न जितने पशुओं को हम जानते हैं—उन सबसे भिन्न में संकेतग्रह होता है। इसका अभिप्राय यह है कि दो निषेधों के योग से संकेतग्रह के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।

आचार्य मम्मट ने बताया है कि संकेत का संबंध चूँकि वैयाकरणों से है, अतः उनके सिद्धान्त के अनुसार संकेतग्रह व्यक्ति में न होकर 'व्यक्ति'

की जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा नामक चार उपाधियों में अलग-अलग होते हैं। तभी महाभाष्यकार की उक्ति 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' सार्थक होती है।

आचार्य मम्मट ने इसको एक अन्य प्रकार से भी व्यवस्थापित किया है। उनका कहना है कि संकेतग्रह व्यक्ति में न होकर 'व्यक्ति' की उपाधि में होते हैं। उपाधि मूलतः दो प्रकार की होती है। एक आरोपित दूसरी उसी में पाई जाने वाली। व्यक्ति की आरोपित उपाधि उसका केवल नाम है, जो संयोगवश ही उसे प्राप्त हो गई है। दूसरी उपाधि प्राणप्रद धर्म है। जो सिद्ध भी होता है और साध्य भी। 'व्यक्ति' का साध्य धर्म क्रिया है, जिसे वह समय-समय पर सम्पादित करता है। सिद्ध धर्म भी दो प्रकार का होता है। प्राणप्रद और विशेषाधानहेतु। व्यक्ति का वह धर्म जो उसे दूसरों से अलग करता है वह 'विशेषाधानहेतु' कहलाता है, जैसे काली गाय, सफेद घोड़ा आदि—इसी को गुण कहते हैं। व्यक्ति का प्राणप्रद 'धर्म' तो जाति है, जैसे गोत्व, मनुष्यत्व आदि। उसके बिना व्यक्ति की सत्ता सम्भावित नहीं इसलिए जाति को सत्ता भी कहते हैं।

आशाधर भट्ट[1] ने 'कोविदानन्द' की एक कारिका में इस बात का प्रतिपादन बड़ी सरलता से किया है। आशाधरभट्ट संकेतग्रह के विषय में मम्मट एवं बिश्वनाथ के विवेचनों से सहमत प्रतीत नहीं होते। उनकी धारणा है कि संकेतग्रह तो वस्तुतः व्यक्ति में ही होता है। जाति आदि उसकी उपाधियाँ हैं। उनमें संकेतग्रह इसलिए नहीं हो सकता; क्योंकि 'गमन' आदि क्रिया की उपयुक्तता गो आदि व्यक्ति में ही सम्भव है। तथा जल आनयन आदि की उपयोगिता घटादि व्यक्ति में ही सम्भव है। जाति आदि उसकी उपाधियाँ हैं। उनमें संकेतग्रह इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि 'गमन' आदि क्रिया की उपयुक्तता गो आदि व्यक्ति में ही सम्भव है। तथा जल आनयन आदि की उपयोगिता घटादि व्यक्ति में ही सम्भव है। जाति आदि के कहीं चेतन तो कहीं अचेतन होने से क्रिया और अर्थ की उपयोगिता उनमें सम्भव नहीं—

"व्यक्तिष्वेव तु संकेतो जात्याद्यास्तदुपाधयाः।
न तु तेष्वेव संकेतः क्रियार्थानुपयोगतः॥"

आशाधर भट्ट के अनुसार क्रियार्थोपयोगी होने से व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानना समुचित है किन्तु वह दुर्बोध्य होता है। हमें उसकी प्रतीति जाति,

---

१. आशाधर भट्ट; अभिधानिरूपणम्, का० ३१

गुण, क्रिया एवं संज्ञा नामक हेतुओं से ही होती हैं। अतः जात्यादि संकेतग्रह के हेतु सिद्ध होते हैं न कि इनमें ही संकेतग्रह होता है—

"संकेतस्तु प्रतिव्यक्ति दुर्ज्ञेय इति हेतुभिः।
जात्या गुणेन क्रियया सुबोधः संज्ञया तु सः ॥[१]
"गौः शुक्लश्चलः शम्भोर्नन्दी वाहनकेतनम्।
इत्यादौ क्रमतो ज्ञेया शब्दसंकेतहेतवः ॥[२]
सामान्यं जातिरित्युक्तं गुणः शुक्लादिको मतः।
क्रियोक्ता चलनादिश्च संज्ञा चाकृतिरेकिका ॥[३]

आचार्य मम्मट ने गुण, क्रिया और यदृच्छा—इन तीनों तत्वों का समाहार केवल जाति में ही प्रदर्शित कर दिया है तथा उसी के आधार पर केवल जाति में ही संकेतग्रह मानने के मीमांसकों के मत का ही समर्थन कर दिया है, जिसकी अभिव्यक्ति मूल कारिका "संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि-र्जातिरेव वा" से होती है।

मम्मट का अभिप्राय यह है कि गुण, क्रिया, यदृच्छा से जिन अर्थों का बोध होता है, उन पर भी जाति का लक्षण घट जाता है। जाति का लक्षण है—नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्' जिसका अभिप्राय है जो तत्त्व अनेक व्यक्तियों में समवाय संबंध से नित्य अर्थात् सर्वदा विद्यमान रहता है उसे ही जाति कहते हैं, इसी को 'सामान्य' भी कहा गया है जो अनेक व्यक्तियों में अनुगत होते हुए भी एक मात्र एक ही होता है तथा व्यक्तियों के मृत या नष्ट होने पर भी वह मृत या नष्ट नहीं होता, अपितु नित्य बना रहता है "नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्"। गुणादि अन्य उपाधियों के स्वरूप का परीक्षण करने पर उन पर जाति का लक्षण ठीक-ठीक घट जाता है।

शुक्ल एक गुण है जो किसी एक व्यक्ति की नहीं अपितु अनेक व्यक्तियों की उपाधि है। इस प्रकार वह दुग्ध, हिम, वस्त्र आदि अनेक व्यक्तियों में अनुगत होता हुआ भी 'शुक्लत्व' कुल मिलाकर एक ही वस्तु है। इसी प्रकार पकाई जाने वाली तमाम वस्तुओं में अनुगत 'पाक-क्रिया' सम्बन्धी तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु, वह पाकत्व के रूप में एक ही है, इसीलिए क्रिया का भी जाति में ही पर्यवसान होता है। इसी प्रकार डित्थ, डवित्थ, कपित्थ आदि

---

२. का० २८

३. का० ३२

४. का० २९

विशुद्ध रूप से व्यक्ति बोधक संज्ञाओं में भी अनेकत्व इसलिए हैं कि वे बाल-युवा एवं वृद्धावस्थाओं के विविध रूपों में अनुगत हैं। 'व्यक्ति' के बाल से युवा या युवा से वृद्ध होने पर उसके स्वरूप में भेद होने से उसमें अनेकता की प्रतीति तो हो जाती है, किन्तु उसका नाम एक ही बना रहता है। अथवा व्यक्ति के एक ही नाम को बालक, वृद्ध और तोते आदि विविध प्रकार से उच्चारित करते हैं, जिससे वह एक होते हुए भी अनेकानुगत हो जाता है। फलतः वहाँ भी डित्थत्वरूप जाति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार गुण, क्रिया एवं यदृच्छा नामक उपाधियों का पर्यवसान या अन्तर्भाव जाति नामक उपाधि में ही सम्भव होने से केवल जाति में ही संकेतग्रह मानने का विकल्प मम्मट ने 'जातिरेव वा' से किया है। किन्तु आशाधरभट्ट अपने व्यक्ति वाले पक्ष पर पूर्ण रूप से दृढ़ नहीं होते इसलिए उन्होंने अथवा कहकर जाति आदि संकेतग्रह मानना 'लाघव' है ऐसा स्वीकार किया। 'व्यक्ति का बोध तो शब्द के अतिरिक्त अन्य प्रमाण से हो सकता है, जहाँ पर अन्य प्रमाण से अर्थ की प्रतीति हो सकती है, वहाँ शब्द की प्रमाणता स्वीकार्य नहीं है। इसलिए लाघववश व्यक्ति की जाति आदि उपाधियों में संकेतग्रह माना है, क्योंकि इनसे निखिल व्यक्तियों का ग्रहण हो जाता है। व्यक्ति का इनसे अविनाभाव सम्बन्ध होता है। इसलिए व्यक्ति को शब्दवाच्य नहीं माना गया है।

"उपाधिभिश्चतुर्भिश्च बोध्यन्ते व्यक्तयोऽखिलाः।
अविनाभावतस्तस्माच्छब्दवाच्या न ताः स्मृताः॥"[1]
"प्रमाणान्तरगम्येऽर्थे न शब्दस्य प्रमाणता।
लाघवात् स्वीकृता तस्मात् संकेतो नास्ति वस्तुषु॥"[2]

यही नहीं, आशाधरभट्ट ने आगे चलकर मम्मट द्वारा प्रतिपादित 'जातिरेव वा' पक्ष का समर्थन करते हुए कहा है, चूँकि जाति ही एक ऐसा तत्त्व है जो गुण, क्रिया, यदृच्छा में भी रहता है, इसलिए केवल जाति में ही संकेतग्रह माना जा सकता है—

"सर्वत्र संभवाज्जातेः सा वा संकेतगोचरः"[3]

टीका 'कादम्बिनी' में प्रायेण मम्मट की पदावली का प्रयोग करते हुए उन्होंने कहा है कि हिम, पय, शंख आदि शुक्ल गुण रूप व्यक्ति भेद

---

१. का० ३४
२. का० ३५
३. का० ३६ पूर्वार्द्ध

से गुड़, तण्डुल, पाक आदि क्रिया भेद से तथा डित्थ आदि शरीर के वृद्धि और ह्रास द्वारा प्रतिक्षण भिन्न होने से इन सबमें अनेकता उत्पन्न हो जाती है जिससे सामान्य (जाति) की सत्ता सर्वत्र सिद्ध हो जाती है।

'हिमपयश्शङ्खादिषु शुक्लगुणरूपव्यक्तिभेदाद् गुणतण्डुलपाकादिक्रिया-भेदाद् डित्थादिशरीरस्योपचयापचयाभ्यां प्रतिक्षणं भिन्नतयाऽनेकत्वाच्च सर्वत्र सामान्यमस्तीति।'[1] इससे यह सिद्ध होता है कि आशाधर भट्ट यद्यपि संकेतग्रह का 'आस्पद', 'व्यक्ति' को ही मानते हैं पर उसके दुर्बोध होने से वे व्यक्ति की जाति आदि उपाधियों को संकेतग्रह का हेतु कहते हैं। अनन्तर मम्मट की सरणि पर ही जाति के सर्वत्र विद्यमान होने से उसे ही संकेतगोचर स्वीकार करते हैं।

उन्होंने यहीं पर जातिविशिष्ट व्यक्ति एवं अपोह में संकेतग्रह के नैय्यायिकों एवं बौद्धों के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए उन्हें गौरवदोषग्रस्त बताया है—

'तद्विशिष्टाथवा व्यक्तिरपोहो वा मतान्तरे।[2]
'जातिव्यक्त्याकृतिरर्थमाहुरन्येऽत्र गौरवम्।[3]

यहीं पर आशाधर भट्ट ने जाति, व्यक्ति और आकृति को पदार्थ मानने वाले नैय्यायिकों के सिद्धान्त का उल्लेख किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि पद अर्थात् शब्द से प्रतीत होने वाले अर्थ तीन प्रकार के होते हैं जाति, व्यक्ति और आकृति। अतः इन तीनों को ही संकेतग्रह का विषय मानना चाहिए। आशाधर भट्ट ने इसे 'गौरवम्' कहकर प्रसिद्ध किया है—

'जातिव्यक्त्याकृतिरर्थमाहुरन्येऽत्र गौरवम्।
शब्दार्थः प्रथमा व्यक्तिरन्या लाक्षणिका मता॥[4]

इसका विवेचन करते हुए वे टीका में कहते हैं कि 'अत्र गौरवादिति शक्यतावच्छेदकनानात्वात् इति भावः' जिसका अभिप्राय यह है कि उक्त रीति से जाति, व्यक्ति और आकृति में संकेतग्रह मानने से एक ही साथ अनेक अर्थों के प्रतीयमान होने से अथवा गौरवदोष ही उपस्थित होता है अथवा पूर्ण सरणि पर यदि केवल जाति में ही संकेतग्रह मानने से सभी

१. का० ३६ वृत्ति
२. का० ३६ उत्तरार्द्ध
३. का० ३७ पूर्वार्द्ध
४. का० ३७

प्रकार के पदार्थों का बोध हो जाता है तो व्यक्ति और आकृति को भी संकेत गोचर स्वीकार करने से 'गौरव' के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। इसलिए यह मत ग्राह्य नहीं है।

किसी के मत का उल्लेख करते हुए आशाधर भट्ट कहते हैं कि व्यक्ति दो प्रकार का होता है—एक वह जो शब्द का वाच्य अर्थ होता है, दूसरा वह जो लाक्षणिक अर्थात् लक्षणागम्य होता है। वाच्यस्य व्यक्ति, व्यक्ति विशेष होता है तथा लक्षणा से जिस व्यक्ति का ज्ञान होता है वह सामान्य होता है। इस प्रकार व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानने से जाति और व्यक्ति दोनों का ग्रहण सम्भव है किन्तु आशाधर भट्ट ने इसे यह कहकर तिरस्कृत कर दिया है कि यह पक्ष चारु नहीं है। वस्तुतः यहाँ नव्यनैय्यायिकों के मात्र व्यक्ति में ही संकेतग्रह करने के पक्ष का समर्थन है, जिसका निराकरण 'आनन्त्य' एवं 'व्यभिचार' आदि दोषों के कारण किया जा चुका है।

लिङ्ग, संख्या और कारकों में संकेतग्रह का विधान मिलता है, जिसके अनुसार लिङ्ग संख्या और कारक तीनों का वाच्य विभक्ति ही होती है। अतः पद में संकेतग्रह होना चाहिए। यह पक्ष स्फोटवादियों का है।

ग्रन्थकार आशाधर भट्ट का कहना है कि पूर्वोक्त विवेचित अनेक पक्षों में केवल प्रथम अर्थात् व्यक्ति की उपाधि जाति में संकेतग्रह ही दोषरहित होने से सम्मत है, शेष सदोष हैं—

'विभक्तिवाच्यता तेषां वस्तुतश्चारुतायुता।
प्रथमं दर्शितः पक्षः साधीयानेषु सम्मतः॥'[1]

१, का० ३७

शब्दार्थसम्बन्धे अन्विताभिधान-वादिमतसमालोचनम्

—डा बलिराम शुक्ल

शाब्दबोधस्य प्रभावः सर्वैः स्वीक्रियते । शाब्दबोधस्य प्रक्रिया अतिजटिला विवादग्रस्ता च विद्यते । शाब्दबोधप्रक्रियाविषये उक्तं च विश्वनाथेन ।

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ।।

इत्यभिधीयते, वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतररूपः सम्बन्धः यथा चोक्तं सङ्केतो लक्षणा चार्थे पदवृत्तिः । वृत्तिविषये अस्ति मतवैचित्र्यं, विचारकेषु नैयायिकाः वृत्तिद्वयं स्वीकुर्वन्ति । आलंकारिकाणां मते व्यञ्जनाऽपि एका वृत्तिरस्ति । तात्पर्यमपि शाब्दबोधोपयिक सम्बन्ध इति केचन मन्यन्ते ।

व्यञ्जनाया वृत्तित्वास्वीकारे "मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमं प्रेक्षितम्" इत्यादौ परस्परविभागजनकक्रियारूपविकासस्य मुखे बाधाल्लक्षितार्थस्य विस्तृतस्यान्वयबोधानन्तरं मुखे कुसुमतुल्यसौरभवत्तायाः चमत्कृतिरमणीयताया बोधस्यानुभवसिद्धस्यापलापापत्तेः । नैयायिकानां नये मनसैव तत्पदार्थं स्यस्मृतिसहकारेण बोधनिर्वाहात् तदर्थं व्यञ्जनाया वृत्तिकल्पनमनावश्यकम् । परन्तु प्रश्नोऽयमत्र समुदेति गामानयेत्यादि वाक्यानन्तरं तत्तपदार्थोपस्थितिसहकृतमनसैव विशिष्टबोधः स्वीक्रियताम् किं शक्त्यादेः वृत्तिकल्पनमिति । यतः पदजन्यपदार्थोपस्थितिः यत्र सम्बन्धान्तरज्ञानजन्य पदार्थान्तरोपस्थितिरूपा तत्र विशिष्टबोधे तादृशपदान्तराभावात् वाक्यजन्यबोधस्य नियन्त्रितविषयकत्वस्यावश्यकत्वेनतादृश बोधस्य न मानसत्वं भवितुमर्हति ।

एवं व्यञ्जनास्वीकारे प्रश्नोयं जागर्ति—व्यञ्जना स्वरूपसती शाब्दबोधे कारणं ज्ञाता वा ? स्वरूपसतीकारणत्वे विकसितादिपदेन सर्वदा सर्वस्य बोधापत्तिः न सहृदयमात्रस्य, व्यञ्जनाया अविशेषाद् इष्टापत्तावनुभवविरोधः । सहजाप्रतीयमानरूपगूढत्वस्य तादृशव्यङ्ग्ये अनुपपत्तिश्च स्यात्, नापि ज्ञाता कारणं शक्तिग्राहकव्यवहारकोषादिवत् व्यञ्जनाग्राहकं वक्तव्यम् पूर्वोक्त ज्ञानसामग्री तद् ग्राहिका न भवितुं शक्या । अतः व्यञ्जनास्थले मानसबोध एव नैयायिकसम्मतः ।

तत्र शक्तिविषये नैयायिकानां मीमांसकैः सह अस्ति मतवैचित्र्यम्। प्रभाकराणां मते शक्तिर्द्विविधा स्मारिका आनुभाविकी च। तत्र घटादि-पदानां या घटत्वजातौ शक्तिः वर्तते सा स्मारिका शक्तिः कार्यान्वितस्वार्थे च आनुभाविकी। यत्र च शक्यतायां नियन्त्रका नानाधर्मा भवन्ति यथा पशुपदशक्यतायां नियन्त्रकाः लोकलांगुलादिरूपाः धर्माः अथवा यत्र शक्यतायाः स्वयन्त्रको धर्मः गुरुभूतः भवति यथा लिङ्गाख्यातपदशक्यताया नियन्त्रककृतिसाध्यत्वं तत्र व्यक्तावेव शक्तिः। सा च ज्ञाता सति शाब्द-बोधे उपयुज्यते। मीमांसकानां मते सर्वत्रैव व्यवहारादेव शक्तिग्रहो जायते यतो हि पदात् कार्यान्वितस्वार्थविषयकः शाब्दबोधो भवति तदर्थं कार्यता-वाचकलिङ्गादिपदघटिता सामग्री अपेक्षिता। सा च सामग्री कोषादि स्थले व्याप्ता अतः कोषादितः न शक्तिग्रहः। प्रयोजकवृद्धस्य शब्दश्रवणानन्तरं प्रयोज्यवृद्धस्य प्रवृत्तौ सत्यां तत्र कार्यताज्ञानस्य कारणत्वं पार्श्वस्थः बालः अनुमिनोति यथा घटानुभवविषयकप्रवृत्तिः घटनयनरूपकार्यताज्ञानजन्या प्रवृत्तित्वात् मदीयस्तव्ययानप्रवृत्तिवत् इत्यनुभावततः घटानवनगोचरज्ञानं घटमानयेति वाक्यजन्यं तदन्वयव्यतिरेकानुविधादित्वात् यथा घटः इत्येवम् कार्यान्वित स्वार्थे शक्ति गृह्णाति। एवं रीत्या प्राभाकराणां मते कार्यान्वित स्वार्थेऽनुभाविनी शक्तिः वर्तते अतो एतेषां मते लिङ् लोट् तव्य प्रत्ययघटिता नामेव वाक्यानां प्रामाण्यं स्वीक्रियते। यत्र कार्यताघटकंपदं नास्ति तत्र न शाब्दबोधार्थं स्मरणमात्रमेव भवति। अन्विताभिधानवादिनस्तु पदार्थ संसर्गस्यापि वाच्यतां स्वीकुर्वन्ति यथा घटादि पदस्य घटत्वंजातौ शक्तिर्वर्तते तथा सम्बन्धेऽपि शाब्द बोधो वर्तत एव तेषामयमाशयः पदै रभिहितार्थानामेव शाब्दबोधे भानं भवति। तद्धि पदक शाब्दबोधं प्रति वृत्तिज्ञानजन्यतदुप-स्थितेः कारणत्वात्। तेषां मते शक्तिज्ञानाकारस्तु इतरान्वितो घटो घट-पदशक्य इत्येवम्भूतः। अत एवं तेषां मते शाब्दबोधे तिस्रः विषयताः अव-तिष्ठन्ते क्वचित् विशेष्यतारूपा क्वचित् संसर्गतारूपा कचित्प्रकारतारूपा।

अत्र नैयायिकाः वदन्ति—कार्यान्वित स्वार्थे पदानां शक्तिरिति अन्विता-भिधानवादिमतं न समीचीनम्। कार्यताबोधकलिङ्गादिघटितवाक्याना-मेव प्रमाणत्वस्वीकारे चैत्रः पुत्रस्ते जातः इति वाक्यश्रवणानन्तरं चैत्रस्य यः सुखानुभवो भवति स न भवितुं शक्यः नहि शाब्दबोधं विना तस्य सुखानु-भवः। तस्य मुखगतप्रसादं दृष्ट्वा तस्य जातस्य शाब्दानुभवस्यानुमानं भवति।

किञ्च सर्पोऽयम् व्याघ्रोऽयम् इत्यादि कथनानन्तरम् अस्माकं यद् भयं जायते तदपि न भवेत् किञ्च तव दाराः मृताः इति वाक्यश्रवणानन्तरं यत्

चैत्रस्य शोको जायते स न स्यात्, किञ्च चैत्र पुत्रस्ते जातः मृतश्चेत्यादि वाक्य श्रवणानन्तर यद् मोहादिकं जायते तदपि न भवेत् किञ्च अनन्यलभ्यः शब्दार्थं इत्यार्षवचनप्रामाण्याद् लिङ्गादिपदानां कार्यतावाचकत्वे अन्येषां पदानां कार्यान्वितस्वार्थे शक्तिकल्पनं न समीचीनम् । किञ्च एतेषां मते ज्ञायमान शक्तिमत्पदं कारणं भवति एवंच अतीतानागतपदज्ञानादपि शाब्दबोधोत्पत्ते-रावश्यकत्वात् तत्र पदानामसत्त्वेन शक्तिमत्पदाभावान्न शाब्दबोधः । पदानां नित्यत्वस्वीकारे कश्चनाभिव्यञ्जकोवश्यं वक्तव्यः । कण्ठताल्वाद्य-भिज्ञानाभावेऽपि श्रावणप्रत्यक्षं भवति अतः तस्य अभिव्यञ्जकत्वं न वक्तुं शक्यते ।

किञ्च 'तत्त्वमसि' 'शालिग्रामो हरिः' 'धर्मो गौः' इत्यादिवाक्यानां प्रामाण्यं तेषां मतेऽसिद्धमेव तद् वाक्यानां लिङ्गादिप्रत्ययाघटितत्वात् ।

पदार्थद्वयसम्बन्धस्य भानं नैयायिकानां मते आकाङ्क्षाज्ञानेनैव जायते तदर्थं तत्र शक्तिकल्पनमनावश्यकम् । किञ्च यत्र पशुपदं लोम्बिशब्दं लाङ्गूलवतश्च विशेष्यविशेषणभावानापन्नत्वेनोपस्थितिर्भविता तत्र तत्पदात् लोनवल्लाङ्गूलवानित्याकारकः शाब्दबोधः । स्यात् यदा खण्डशः शक्तिज्ञानं जायते तदा तु खण्डश एवोपस्थितिर्भवति शाब्दबोधोऽपि तदाकार एव जायते । अतः पशुपदं लोम्नि शक्तं लाङ्गूलवति च शक्तम्, धेनुपदं धेनौ शक्तं गवि च शक्तम्" इति शक्तिज्ञानाद् विशेषणभावाऽऽपन्नत्वेन प्रसक्तस्य शाब्दबोधस्य वारणाय तद्धर्मप्रकारेण तद्विषयकशाब्दबोधे वृत्तिज्ञानजन्य तद्धर्मावच्छिन्न तद्विषयकोपस्थितित्वेनैव हेतुत्वं वक्तव्यम् । एवञ्च तत्संसर्गस्थ बोधस्य किञ्च धर्मप्रकारेण शाब्दबोधविषयत्वं नास्ति अतः तुल्यवृत्तिज्ञानाद नुपस्थितावपि तच्च भानं शाब्दबोधे जायत एव । अस्येदं तात्पर्यं संसर्गे संसर्गता-ऽवच्छेदके च प्रकारताख्यविषयत्वं न स्वीक्रियतेऽपितु विशेषणात्मकविषयता स्वीक्रियते । तन्मते संसर्गस्य स्वरूपतो भानेन न तादृशकार्यकारणभावा-क्रान्तता ।

किञ्च वाक्यार्थः संसर्गो भवति यदि वाक्यार्थस्य संसर्गस्य वृत्त्यैव भानं स्यात् तथा शाब्दबोधस्य किं प्रयोजनम् ? किञ्च यदि अन्विते शक्तिस्तदा घटमानयेत्यत्रान्वितो घटः अन्वितं घटत्वं, अन्वितं कर्मत्वं अन्वितमानयनम् अन्वितो व्यापारः इति स्मरणचतुष्टयापत्तिरिति । अतः घटपदस्य घटमात्रे एव शक्तिः स्वीकर्तव्या इति ।

शैली-विज्ञान : भारती काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में

—डा० ओमप्रकाश सिंहल,

समीक्षा-साहित्य के प्रारम्भ से लेकर आज तक जो समस्या साहित्य-समीक्षक को निरन्तर सोचने के लिये प्रेरित करती रही है वह यह है कि किसी भी कृति की निष्पक्ष समालोचना का मूल आधार क्या होना चाहिये। काव्यात्मा के प्रश्न को लेकर भारतीय काव्यशास्त्र में—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि और औचित्य काव्य-सम्प्रदायों का समस्त विवेचन-विश्लेषण मूलतः इसी बिन्दु पर केन्द्रित रहा है। शैली-विज्ञान भी मूलतः उन सिद्धान्तों का निर्देश करता है जिनके आधार पर किसी भी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन किया जाना चाहिये। कोई भी साहित्यिक कृति वास्तविक जीवन का फोटोग्राफ मात्र न हो होकर भाषाबद्ध सृजनात्मक रूपान्तरण होती है। साहित्यकार शाब्दिक संरचना के माध्यम से ही एक सर्वथा आकल्पित सौन्दर्य संसार की सृष्टि करता है। अतएव शैली-विज्ञान की मूलभूत मान्यता यह है कि किसी भी कृति का सम्यक् और सही मूल्यांकन उसकी भाषिक संरचना के माध्यम से ही संभव है। भाषिक विश्लेषण की अपेक्षा इसलिये भी है क्योंकि पाठक-आलोचक की पहली टकराहट किसी कृति की भाषा से ही होती है। अभिव्यक्ति के माध्यम यानी भाषा के विश्लेषण से ही हम उन संवेगों को पकड़ सकते हैं जिन्हें कृतिकार अपनी कृति में रूपांतरित करता है। शैली-विज्ञान यह मानता है कि कथ्य तथा अभिव्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के अनुसन्धान एवं विश्लेषण के बिना संवेगों को नहीं पकड़ा जा सकता। इसीलिये फ्रीमैन ने माना है कि एक अच्छी समीक्षक अनिवार्यता एक अच्छा भाषाविद् भी होता है।[१]

किसी भी साहित्यक कृति के मूल्यांकन के लिये रसवत्ता आदि निकष इसलिये पूर्णतः समर्थ नहीं माने जा सकते क्योंकि ये एक तो देश-काल के साथ

---

१. 'A good critic is perforce a good linguist'—Linguistic approaches to literature by Donald. C Freeman in Linguistics and literary style, Page 3.

साथ परिवर्तित होते रहते हैं और दूसरे ये कृति को केन्द्र में रखने के स्थान पर पाठक को केन्द्र में रखकर चलते हैं। उदाहरण के लिये रसमयता का सारा प्रश्न सहृदय पर केन्द्रित है और सहृदय को केन्द्र में रखकर की गई आलोचना में पाठक पहले आता है तथा कृति बाद में। होना तो यह चाहिये कि आलोचना करते समय मुख्यतः कृति ही हमारे समक्ष विद्यमान रहे और यह तभी सभव है जब आलोचना करते समय कृति और उसकी भाषिक संरचना को केन्द्र में रखा जाये। भाषिक संरचना में ही लेखकीय मंतव्य अनुस्यूत होता है। भाषा वास्तव में लेखक की अनुभूति और चिन्तन का शाब्दिक प्रतीक होती है। अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिये किसी भी भाषिक प्रतीक के चयन के बहुत से कारण हो सकते हैं—कभी लेखक का निजी व्यक्तित्व अथवा शैली, कभी युग विशेष का शैलीगत वैशिष्ट्य तो कभी विधा विशेष की अपनी अपेक्षाएं। शैली-विज्ञान इस शैली विशेष के थर्मामीटर द्वारा ही कृति की ऊष्मा को पहचानने-परखने का प्रयत्न करता है, कृति की आत्मा तक पहुंचना चाहता है। हिल के अनुसार, 'शैली-विज्ञान भाषा की संरचना, व्यवस्था और प्रतीक योजना के आधार पर भाषेतर संसार को उद्घाटित करता है, वह स्थूल ध्वनियों के संसार के सूक्ष्म अर्थ के संसार को अनुबंधित करता है।

कथ्य के शब्दार्थ में ही निहित होने की बात भारतीय काव्यशास्त्र के अध्येताओं के लिये नई नहीं है। भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर शब्द को भाषा के व्यापक पालक के साथ जोड़ा है तो अलंकारवादी रुद्रट ने भी 'शब्दार्थौ काव्यम्' कहकर काव्य को शब्दार्थ के परिप्रेक्ष्य में देखने की बात कही है। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति को विशिष्ट पद रचना से परिभाषित किया है तो कुन्तक ने भी शब्द और अर्थ के मंजुल संबंध को काव्य की संज्ञा दी है। ध्वनि सम्प्रदाय भी काव्य-विश्लेषण के लिये शब्दार्थ को आधार मानकर चलता है। ये सभी आचार्य इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि मात्र शब्दार्थ काव्य नहीं है। इसीलिए तो भामह ने कहा था कि मात्र शब्दार्थ तो वार्त्ता है और वार्त्ता को साहित्यिकी परिधि में नहीं रखा जा सकता। यह शब्दार्थ काव्य तभी बनता है जब उसमें रमणीयता होती है और यह रमणीयता आती है लोकातिकार वचनों के माध्यम से अर्थात् ऐसे प्रयोग से जो हमारे नित्य प्रति के प्रयोग से भिन्न होने के कारण पाठक को अनायास ही चमत्कृत कर देते हैं। दूसरे शब्दों में भामह ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य का उद्घोष किया है कि यद्यपि प्रत्येक काव्योक्ति भाषिक होती है किन्तु सभी भाषिक कथनों को काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। शैलीविज्ञान भी यही

मानता है कि काव्यभाषा दैनिक जीवन में व्यवहृत होने वाली भाषिक संरचना का अतिक्रमण कर एक विशिष्ट शैली का प्रयोग करती है। इसीलिए शैलीविज्ञान के मनीषी व्याख्याता डा० रवीन्द्र श्रीवास्तव की यह मान्यता है कि "काव्य के भाषागत वैशिष्ट्य भाषा के सामान्य नियम (नार्म) के अतिक्रमण के रूप में परिभाषित करने चाहिएँ। रेब्जिन, तोपोरोव, सोल सपोर्टा प्रभृति विद्वान् भी भाषा को विशिष्ट प्रयोग के रूप में देखने और भाषा के सामान्य नियम के अतिक्रमण के रूप में पारिभाषित करने के पक्ष में रहे हैं।

शैलीविज्ञान के अनुसार शैली की संरचना मूलतः चयन-सिद्धान्त पर आधृत है। प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान् लुई मिलिक के अनुसार कृतिकार अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए विभिन्न समानार्थी शब्दों, शब्द-घटकों, वाक्यांशों तथा वाक्यों में से किसी एक का चयन कभी तो सावधानीपूर्वक करता है और कभी अभ्यासवश। भामह, वामन आदि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने भी अपने सिद्धान्तों का निरूपण करते समय इसी सिद्धान्त को आधाररूप में ग्रहण किया है। भामह ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि कवि को शब्दों के चयन में विशेष साबधानी बरतनी चाहिए। उसके अपने शब्दों में, 'यह सुगन्धित फूल ग्रहण करने (लगाने) योग्य है, यह भद्दा है अतः त्याज्य है, यह गूंथने पर सुन्दर लगेगा, इसका यह उपयुक्त स्थान है और इसका यह—जिस प्रकार फूलों को अच्छी तरह पहचान कर माली माला गूँथता है उसी प्रकार काव्य में शब्दों का प्रयोग भी सावधानी पूर्वक करना चाहिए।[1]

कुंतक तथा आनन्दवर्धन ने भी अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में इसी तथ्य को रूपायित किया है। कुंतक के अनुसार 'अन्य के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द है अर्थात् अनेक पर्यायवाची शब्दों के रहते हुए भी उन सब की अपेक्षा विलक्षण रूप से जो अर्थ को प्रकाशित कर सके। केवल वही शब्द काव्य-मार्ग में शब्द कहा जाता है।'[2] आनन्दवर्धन के अनुसार

---

१. एतद्ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतहन्निधेयम्
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय माला
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम्।

—काव्यालङ्कार २।५९

२ शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥

वक्रोक्तिजीवितम् १।९

'उक्त्यंतर से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसको प्रकाशित करने वाला व्यंजनाव्यापारयुक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी है।

शैलीविज्ञान शब्द-चयन के साथ-साथ शब्द-विन्यास पर भी पर्याप्त बल देता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इसे काव्य-पाक की संज्ञा दी है। भामह ने काव्यपाक के दो भेद किये हैं—(i) अहृद्य (ii) हृद्य। अहृद्य को ही कपित्थ पाक कहा गया है और इसमें हृद्य-रंजन की सामर्थ्य नहीं मानी गई है। इसीलिए उस सौशब्द्य अर्थात् सुन्दर शब्दों का विलास भर माना गया है। वामन ने भी काव्य-पाक को दो वर्गों में विभक्त किया है—(i) वृन्त पाक तथा (ii) सहकार पाक। 'वृन्त पाक' में गुण अस्फुट रहते हैं तथा 'सहकार पाक' में गुण स्फुट रूप में विद्यमान रहते हैं। सहकार पाक ही काव्य के रमणीयत्व को अभिव्यक्त करता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यात्मा के प्रश्न को लेकर अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति सम्प्रदायों को देहवादी माना गया है तथा शेष को आत्मवादी। शैलीविज्ञान के समर्थकों के अनुसार यह बात सही नहीं है। इसका कारण यह है कि देहवादी कहे जाने वाले सम्प्रदाय भी रस के मर्म से भली-भांति परिचित हैं, किन्तु वे रस को काव्यत्व का अनिवार्य उपकरण इसलिए नहीं मानते क्योंकि रस काव्य का उद्देश्य अथवा प्रयोजन है, न कि उसकी आत्मा। आत्मा तो कृति के भीतर ही निवास करती है और इसीलिये ये काव्यात्मकता का केन्द्रक कृति मानते हैं, रस की सत्ता को सहृदय में खोजने के स्थान पर कृति में ही खोजते हैं। डा० रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव ने इसी तथ्य की स्थापना करते हुए लिखा है,। जिन साहित्याचार्यों को सामान्यत देहवादी या रूपवादी बतला कर यह कह दिया जाता है कि रस के मर्म को उन्होने ठीक से नहीं समझा, यह उचित नहीं। वे न तो मात्र रूपवादी हैं और न रस-विरोधी। रसवादियों से उनका विरोध इस तथ्य में निहित है कि काव्यात्मकता का केन्द्रक (लोकस) काव्य-कृति मानते हैं, सहृदय नहीं, रस की जो स्वीकृति उनके काव्य-सिद्धान्त में है, उसका सम्बन्ध वर्ण्यवस्तु या शब्दार्थ की अपनी प्रकृति से है, पाठक की चित्तवृत्ति अथवा वासनागत संस्कार से नहीं। रस उनकी दृष्टि में काव्य का उपजीव्य है पर 'आत्मा' नही, वह काव्य का एक रूप है पर उसका मुख्य रूप नहीं है।"

भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि सभी काव्य-सम्प्रदायों ने काव्य-सौन्दर्य को उद्घाटित करने के लिए भाषावादी दृष्टिकोण अपनाया है। यहाँ तक कि रससम्प्रदाय के समर्थक एवं पोषक आचार्य भी भाषावादी सन्दर्भ की सर्व उपेक्षा नहीं करते। अभिनव-

गुप्त के अनुसार रस-ध्वनि ही काव्यात्मा है। ध्वनि भाषा का गुण है और उसे शब्द-शक्तियों के आधार पर ही समझा जा सकता है। आनन्दवर्धन ने व्याकरण को सभी विद्याओं का मूल माना है। रस, रीति और वक्रोक्ति काव्य-सम्प्रदायों ने तो काव्य-सौन्दर्य को उद्घाटित करने के लिए स्पष्टतः भाषावादी दृष्टिकोण अपनाया है। इन सम्प्रदायों में अन्तर मात्र इतना है कि सम्प्रदाय विशेष विभिन्न भाषिक उपकरणों में से किसी एक अर्थात् अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि को काव्यत्व का मूलभूत उपकरण मानता है और यह खोजने का प्रयत्न करता है कि किस प्रकार भाषिक प्रत्यय अबौद्धिक लयात्मक काव्य में परिणत हो जाता है। शैलीविज्ञान भी उस प्रक्रिया की खोज करता है जिसके माध्यम से शब्दों में निहित अर्थ बौद्धिक प्रत्यय से लयात्मक प्रत्यय में रूपांतरित हो जाता है। शैली-विज्ञान यह मानता है कि सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक काव्यशास्त्र भाषा के सन्दर्भ में ही निर्मित हो सकता है। दूसरे शब्दों में साहित्य शास्त्र भाषाशास्त्र का एक उपाय है। भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि व्याकरण के साथ उसका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के शब्दों में 'काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों—रस (भरतमुनि), अलंकार (भामह, उद्भट और रुद्रट), गुण (दण्डी तथा वामन), वक्रोक्ति (कुन्तक), ध्वनि (आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त), औचित्य (क्षेमेन्द्र) सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव से पूर्व भाषाशास्त्र न केवल पूर्णतः व्यवस्थित हो चुका था वरन् उसके विभिन्न सम्प्रदाय भी बन चुके थे। यास्क, पाणिनि, व्याडि, कात्यायन आदि व्याकरणाचार्यों के भाषा सम्बन्धी सिद्धान्त चौथी शती ईसापूर्व प्रतिपादित हो चुके थे। अगर भरतमुनि को छोड़ दें तो पतञ्जलि वसुरात (यहाँ तक कि भर्तृहरि) आदि के भाषा-सिद्धान्त छठी शती तक न केवल निरूपित हो चुके थे बरन् उन पर टीकाएं भी लिखी जा चुकी थीं। यह तथ्य इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि काव्यशास्त्र का पहला सम्प्रदाय (अलंकार) व्यवस्थित रूप में भामह के काल से माना जाता है और विद्वान् भामह) का जीवनकाल छठी शताब्दी मानते हैं।"

यदि शैली विज्ञान की इस आधारभूत मान्यता को स्वीकार कर लिया जाए कि किसी भी कृति के अध्ययन-मूल्यांकन के निमित्त उसके भाषिक सन्दर्भ को ही आधार रूप में अपनाना चाहिए तो यह प्रश्न उठता है कि शैली-विज्ञान इस सिद्धान्त का क्रियान्वयन किस प्रकार करता है ? क्या वह भारतीय

काव्यशास्त्र में निरूपित अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के भेदों—प्रभेदों को आधार बना कर चलता है अथवा इस सन्दर्भ में उनकी कोई निजी पद्धति है। वास्तव में विचारणीय प्रश्न यह नहीं है कि शैली-विज्ञान के व्याख्याता काव्य-विश्लेषण के लिए जिस सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं, उनका कोई प्रारूप भारतीय काव्यशास्त्र में मिलता है अथवा नहीं, क्योंकि चिन्तन-प्रक्रिया के निरन्तर विकासशील होने के कारण अध्ययन के आयाम और स्तर परिवर्तित होते ही हैं, महत्वपूर्ण यह है भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि भाषावादी थी या नहीं। आज भाषा-विश्लेषण के लिए अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं यथा संघटनात्मक टैग्मेमिक, सिस्टमैटिक रूपान्तरण आदि। यह कहना कि किसी कृति के विश्लेषण के लिए इनमें से किसी एक सिद्धान्त का प्रयोग करना काम्य है, अन्य का नहीं अत्यन्त भ्रामक है। शैली-विज्ञान के व्याख्याता यह स्वीकार करते हैं कि किसी कृति के विश्लेषण के लिए इनमें से किसी भी सिद्धान्त का प्रयोग किया जा सकता है और सम्प्रति किया भी जा रहा है।

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुशीलन से यह तथ्य अनायास उभर कर आता है कि किसी कृति की समीक्षा के निमित्त भाषावादी दृष्टि की उपेक्षा केवल उसी समय हुई जब अभिनवगुप्त ने अत्यन्त कौशल के साथ समीक्षा के लिए कृति के स्थान पर सहृदय को केन्द्रक का स्थान दे दिया था। अभिनव-गुप्त की यह धारणा आगे चलकर निरन्तर पुष्टि प्राप्त करती गई। प्रश्न उठता है कि आगे चलकर अभिनवगुप्त की इस धारणा को खण्डित करने तथा कृति को केन्द्र में रखने का प्रयत्न क्यों नहीं हुआ। वस्तुत: हुआ यह कि आगे चलकर भर्तृहरि सदृश कोई ऐसा भाषाशास्त्री नहीं हुआ जिसने भाषा के सृजनात्मक पक्ष को उजागर करते हुए कृति को फिर से केन्द्र में रखने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया हो। यह कार्य तो कई शताब्दियों बाद वर्तमान शताब्दी में शैली-वैज्ञानिकों के द्वारा सम्पन्न हुआ। भारत में इस सिद्धान्त के व्याख्याता रहे डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव जिन्होंने अपनी वैज्ञानिक दृष्टि, तार्किक बुद्धि तथा साहित्यिक समझ के फलस्वरूप भाषाविज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों को हृदयंगम कर लेने में समर्थ होने के कारण अत्यन्त निर्भ्रांत शब्दों में इस तथ्य की स्थापना की है कि शैली-विज्ञान आलोचना के माध्यम से ही किसी कृति के समूचे सौन्दर्य को विश्लेषित किया जा सकता है।

पाणिनीय व्याकरण में कारक-सम्बन्ध

डा. दीप्ति शर्मा

संसार की किसी भी भाषा में अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति वाक्य के द्वारा ही होती है। वक्ता जहाँ पद या शब्द से अपने अभिप्राय को स्पष्ट करता है वहाँ भी वस्तुतः पद मात्र अर्थ सम्प्रेषण में समर्थ नहीं होता अपितु भाषेतर अन्य उपकरण यथा प्रसंग, चेष्टा, काकु आदि भावबोध में सहायक होते हैं। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने ही नहीं, आधुनिक भाषाविज्ञानियों ने भी अर्थ सम्प्रेषण के सन्दर्भ में वाक्य के महत्त्व को स्वीकार किया है। इसीलिए अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद के रूप में जहाँ वाक्य सम्बन्धी दो महत्त्व पूर्ण भारतीय सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं वहीं पश्चिम के आधुनिक भाषाविद् भी यह मानते हैं कि वाक्य ही अर्थ-सम्प्रेषण की इकाई है।

वाक्य के लक्षण को लेकर विद्वानों में मतभेद दृष्टिगत होता है किन्तु यहाँ बिना उन मतभेदों की चर्चा किए जो सामान्य तथ्य सभी लक्षणों में दृष्टिगोचर होते हैं उन्हीं की चर्चा करना पर्याप्त होगा। इसमें सबका मतैक्य कि है वाक्य पदों का समूह होता है। अभिहितान्वयवादी पदों की सत्ता को भी वास्तविक मानते हैं जबकि अन्विताभिधानवादी वाक्य को ही वास्तविक मानते हैं और पदों को सौकर्य की दृष्टि से किया गया विभाजन बतलाते हैं। पदों की सत्ता को वास्तविक मानें या काल्पनिक, उनकी सत्ता को स्वीकार करने के साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वाक्य के अन्तर्गत पदों में परस्पर सम्बन्ध भी होता है। आधुनिक युग में आकृति के आधार पर किए गए भाषा भेदों में अयोगात्मक भाषाओं में विशेष रूप से, तथा अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में भी शब्दों का परस्पर सम्बन्ध वाक्य में उनके स्थान के आधार पर निर्णीत होता है। पहले प्रयुक्त होने पर वही पद कर्त्ता हो जाता है और बाद में प्रयुक्त होने पर वही कर्म। जैसे चीनी भाषा का एक वाक्य लें

न्गो (मैं) ता (मारना) नी (तुम) = मैं मारता हूँ तुम्हें।

नी (तुम) ता (मारना) न्गो (मैं) = तुम मारते हो मुझे। इसी प्रकार अंग्रेजी के वाक्य Ram beats Shyam में कर्तृत्व एवं कर्मत्व का

निर्धारक राम एवं श्याम[1] का स्थान है। राम इसलिए कर्ता है कि उसका प्रयोग पहले हुआ है। इसी प्रकार बाद में प्रयुक्त होने के कारण श्याम कर्म है। इन दोनों पदों का यदि स्थान परिवर्तन कर दिया जाए तो राम एवं श्याम के कर्तृत्व एवं कर्मत्व में भी अन्तर आ जाएगा। इस प्रकार की भाषाओं में पदों का परस्पर सम्बन्ध-निर्धारण चूँकि वाक्य में उनके स्थान से होता है इसलिए प्रत्येक सम्बन्ध का अभिव्यंजक स्थान भी नियत होता है। किन्तु संस्कृत जैसी श्लिष्ट योगात्मक भाषा में शब्दों का पारस्परिक सन्बन्ध प्रत्ययों द्वारा निर्णीत होता है। प्रत्यय शब्द के साथ जुड़े रहते हैं इसलिए शब्द वाक्य में कहीं भी रहे उसका सम्बन्ध उसके साथ रहता है अर्थात् वाक्य में शब्द का स्थान परिवर्तन कर देने पर भी सामान्यतया अर्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता। अर्थतत्व में सम्बन्धतत्व को जोड़ देने के कारण वाक्य में पदक्रम का महत्त्व गौण हो जाता है। जैसे उपर्युक्त अंगरेजी वाक्य का यदि संस्कृत अनुवाद करें तो 'रामः श्यामं ताडयति' होगा। इस वाक्य के पदों को किसी भी क्रम से रखा जाए राम के कर्तृत्व एवं श्याम के कर्मत्व में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि उनके कर्तृत्व एवं कर्मत्व के द्योतक प्रत्यय भी उनके साथ संयुक्त हैं। संस्कृत व्याकरण में सम्बन्धतत्व को कारक एवं शब्दों में उस सम्बन्ध को अलग-अलग द्योतित करने वाले प्रत्ययों को विभक्ति कहा गया है। अन्य प्रत्ययों तथा विभक्तियों में भेद का भी यही आधार है कि विभक्तीतर सभी प्रत्ययों के द्वारा भाषा के अर्थतत्त्व का नियमन होता है और विभक्तियों द्वारा केवल सम्बन्धतत्त्व का। आकृति के आधार पर पाणिनि ने विभक्तियों को दो कोटियों में विभाजित किया है 'सुप्' एवं 'तिङ्'। सुप् विभक्तियाँ नाम शब्दों के साथ प्रयोग की जाती हैं और 'तिङ्' धातुओं के साथ। विभक्तिहीन और विभक्तियुक्त के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पाणिनि ने क्रमशः शब्द और पद का प्रयोग किया है। अष्टाध्यायी के १. १. १४ में वे स्पष्ट कहते हैं 'सुप्तिङन्तं पदम्'।

संस्कृत के पदों में सम्बन्धतत्त्व का अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है। प्रथमतः पदों के परस्पर सम्बन्ध के स्वरूप के आधार पर और द्वितीयतः विभक्तियों द्वारा उनके प्रकटन के आधार पर। प्रथम स्थिति में अर्थतात्विक विश्लेषण अभिप्रेत है एवं दूसरी स्थिति में आकृतिमूलक। पहले को ही कारक कहा जाता है और दूसरे को विभक्ति। कर्त्ता, कर्म, करण

---

१. शर्मा, देवेन्द्रनाथ; भाषाविज्ञान की भूमिका; पृ० ६४

सम्प्रदान आदि कारक हैं जिन्हें हम प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी आदि विभक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। पद का पूर्ण एवं सही स्वरूप समझने के लिए इन दोनों का विश्लेषण आवश्यक है।

कारक का लक्षण करते हुए कहा गया है 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' अर्थात् क्रिया के साथ अन्वय की योग्यता कारकत्व है और जिसमें कारकत्व हो वह कारक। कर्त्ता, कर्म, करण आदि को कारक इसलिए कहा जाता है कि नामपद के क्रियापद के साथ सम्बन्ध के ये भेद हैं। 'सम्बन्ध' को कारक नहीं माना गया क्योंकि 'सम्बन्ध' का क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। आधुनिक भाषाविज्ञान के लिए यह विचारणीय विषय हो गया है कि सम्बन्ध को कारक माना जाए या नहीं ? कृदन्त शब्दों को क्रिया मानने और नहीं मानने के आधार पर इस विषय में स्पष्टतः दो मत हो गए हैं।

संस्कृत में नाम पद से क्रिया पद के सम्बन्ध के आधार पर कारकों की संख्या छह मानी गई है। तात्पर्य यह कि नाम एवं क्रिया में छह प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। ये सभी सम्बन्ध एक समान महत्त्व के नहीं होते। कोई क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध रखता हैं और कोई परम्परा से। जैसे 'गुरुः शिष्याय पुस्तकालयात् पुस्तकं ददाति" वाक्य को लें। तारापोरवाला[1] का विचार है कि इस वाक्य में 'पुस्तकालयात्' का सम्बन्ध 'ददाति' क्रिया से उतना निकट का नहीं है जितना 'पुस्तकम्' पद से है। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि 'पुस्तकालयात्' 'पुस्तकम्' के वैशिष्ट्य की ओर संकेत कर रहा है। 'ददाति' क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध तो 'गुरुः' और 'पुस्तकम्' का ही है अन्य पदों का सम्बन्ध प्रकारान्तर से है। अतः अत्यधिक सूक्ष्मता से विचार करने पर केवल कर्त्ता और कर्म को निर्द्वन्द्व रूप से कारक कहा जा सकता है। दूसरे कारक कर्त्ता एवं कर्म के माध्यम से क्रिया की निष्पत्ति में सहायक होते हैं।[2] क्रिया के अन्तर्गत व्यापार एवं फल की धारणा निहित होती है। व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है और फल का आश्रय कर्म अतः स्वाभाविक है कि कर्त्ता एवं कर्म का क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है।

कारकों का भेद कर उन्हें मुख्य और गौण की दो कोटियों के अन्तर्गत रखें या सबों को समान मानकर एक कोटि में रखें, इसमें सन्देह नहीं कि पाणिनि द्वारा परिगणित सभी कारक कारकत्व की कोटि में आते हैं। जैसा

---

1. Taraporewala, I. J. S.; Sanskrit Syntax; P. 24.
2. Panday, R. C.; Problems of meaning in Indian Philosophy; p. 143.

पहले ही संकेत किया जा चुका है। कारकों की धारणा अर्थतत्व पर आधारित है एवं विभक्ति उसे अभिव्यक्त करने वाला रचनातत्व है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जा सकता कि कारक एवं विभक्ति में नित्य अथवा अविनाभाव सम्बन्ध है। विभक्ति कारक की द्योतक अवश्य है किन्तु वह कारक के अतिरिक्त अन्य अर्थों का भी द्योतन करती है। इसीलिए विभक्ति के दो भेद-कारक एवं उपपद—वैयाकरणों को करने पड़े। किन्तु कारक और विभक्ति का भेद व्याकरण शास्त्र के ग्रंथों में सर्वत्र स्पष्ट रूप से सामने नहीं आया है। पारिभाषिक शब्दावली सम्बन्धी उलझन अनेकत्र देखने को मिलती है और ऐसे कई स्थल हैं जहाँ विभक्ति के स्थान पर कारक का प्रयोग होता है। अनन्थतनारायण[1] ने विभक्ति और कारक के अन्तर की चर्चा करते हुए पारिभाषिक शब्दावली सम्बन्धी उलझन को पाणिनि के परवर्ती वैयाकरणों द्वारा किया हुआ माना है। वस्तुतः यह उलझन पाणिनि के बाद उत्पन्न नहीं हुई अपितु अष्टाध्यायी में ही अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ विभक्ति के स्थान पर कारकवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे कि सूत्र १. ४. ४६ में द्वितीया के स्थान पर कर्म 'अधिशीङ् स्थासां कर्म'।

पाणिनि के पक्ष में सिर्फ इतना कहा जा सकता है कि उनका उद्देश्य व्याकरण को संक्षेप प्रदान करना था एवं संक्षेपण की दृष्टि से उन्होंने सर्वत्र अन्वर्थ संज्ञाओं का ही प्रयोग नहीं किया अपितु कारकवाची शब्दों का पारिभाषिक शब्दावली के रूप में भी प्रयोग किया है। संरचना की दृष्टि से जिन स्थलों पर समानता दीख पड़ी वहाँ पर एक कारक की दूसरी संज्ञा करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उन स्थलों पर पदों के पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् कारकत्व में अन्तर आ जाता है। अधिकरण की कर्मसंज्ञा करने का एकमात्र प्रयोजन उसके संरचनात्मक वैशिष्ट्य की संक्षेप में व्याख्या करना ही प्रतीत होता है। अधि उपसर्ग पूर्वक शीङ् एवं आस् धातु का प्रयोग वाक्य में कर्मवाच्य के समान भी होता है। अस्तु आधार की कर्मसंज्ञा कर देने पर संरचना के नियम बनाने में सौकर्य हो जाता है। शयन के आधार शयन का फल नहीं पड़ता। इसलिए धातु सोपसर्ग हो या अनुपसर्ग उसके आधार के आधारत्व में कोई अन्तर नहीं आता। आधार आधार पर ही रहता है। हाँ सोपसर्ग होने पर आधार में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है अन्यथा सप्तमी का। इतना ही नहीं

1. Ananthanarayana, H. S.; the kārka theory and Case Grammar; p. 6.

सोपसर्ग धातु के साथ आधार का प्रथमा विभक्ति में भी प्रयोग होता है, 'बालकेन शय्या अधिशय्यते'। इस प्रकार के संरचनात्मक वैशिष्ट्य की ओर ही पाणिनि का ध्यान प्रतीत होता है। आधार की कर्मसंज्ञा कर देने से बिना अतिरिक्त नियमों के विधान के ही इस प्रयोग की व्याख्या वे कर सके। परवर्ती आचार्यों ने कर्म की अन्वर्थ व्याख्या करने के प्रयास में उसे 'अन्य-पूर्वक' के नाम से एक नवीन भेद मान लिया। इस प्रकार कर्म के स्वरूप में ही अन्तर आ गया और पारिभाषिक शब्दावली की उलझन बढ़ती गई। वस्तुतः अन्य पूर्वक कर्म का भेद हो ही नहीं सकता। पाणिनि को भी इस संदर्भ में 'कर्म' का अन्वर्थ प्रयोग ईप्सित रहा होगा, यह संदिग्ध है। अन्यपूर्वक कर्म के समस्त उदाहरण कर्म के भेद न होकर विभक्ति-भेद के उदाहरण हैं और उनकी उसी दृष्टि से व्याख्या की जानी चाहिए। कारक-सम्बन्ध को विभक्ति-भेद के आधार पर निर्धारित करना भाषा के अर्थमूलक सूक्ष्म-अन्तर तथा संरचनात्मक वैविध्य को ध्यान में नहीं रखने के कारण ही होता है।

जो स्थिति अन्यपूर्वक कर्म की है वही कर्म के एक अन्य भेद, संज्ञान्तर से अनाख्यात की भी है। जिन उदाहरणों को लेकर इन भेदों की स्थापना की गई है वे सभी उदाहरण द्वितीया विभक्ति के हैं। संज्ञान्तर से अनाख्यात कर्म का उदाहरण कौण्डभट्ट ने[1] 'गाँ दोग्धि पयः' दिया है। यहाँ पर गो शब्द में अपादान कारक होना चाहिए था। किन्तु अपादान के स्थान पर कर्म-कारक होता है इसलिए यह संज्ञान्तर से अनाख्यात कर्म है, 'गाम्' में कर्मता की पुष्टि करते हुए भैरव मिश्र[2] ने यही कहा है। लेकिन वस्तुस्थिति को ध्यान से देखने पर यह व्याख्या सही प्रतीत नहीं होती। 'दुह्' धातु का अर्थ 'अन्तःस्थितद्रवद्रव्यनिष्ठविभागानुकूलव्यापार' है। स्वभावतः दोहन क्रिया में द्रव वस्तु किसी स्थान से अलग होगी। जिस स्थान से वस्तु अलग हो वह अपादान कारक होता है। उपर्युक्त उदाहरण में दूध गाय से अलग हो रहा है। अतः 'गो' अपादान होगा। 'गां दोग्धि पयः' में अपादान कारक के लिए द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है कर्म कारक के लिए नहीं। इसलिए 'गां' संज्ञान्तर से अनाख्यात कर्म का उदाहरण नहीं है। यह तो विभक्ति-भेद के प्रयोग का उदाहरण ही कहा जा सकता है।

---

१. कौण्डभट्ट; वैयाकरण भूषणसार; सुबर्थनिर्णय; पृ० १६४

२. भैरवमिश्र; वैयाकरण भूषण सार की दर्पण टीका; पृ० १६४-६५

कारक के लक्षण के संदर्भ में 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' की चर्चा की जा चुकी है। नागेश ने क्रिया के साथ अन्वय की योग्यता को महत्त्व न देकर उसके निष्पादक को कारक माना और कहा 'क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वम्' अर्थात् क्रिया को निष्पन्न करने की शक्ति जिसमें हो, वह कारक है। अन्वय के प्रसंग में देखा जाता है कि क्रिया के साथ साक्षात् अन्वय तो केवल कर्ता और कर्म का होता है, अन्य कारक परम्परया अन्वित होते हैं। क्रिया की निष्पादकता की शक्ति कारक में मानने पर भी कुछ प्रत्यक्ष कारक प्रतीत होते हैं और कुछ अप्रत्यक्ष। कारकों की निष्पादकता के स्वरूप में अन्तर होता है। निष्पादक की व्याख्या उत्पादक या जनक के रूप में की गई है 'निष्पादयति-उत्पादयति निष्पादकः-जनकः'।[1] कर्ता क्रिया का निष्पादक अर्थात् जनक या उत्पादक होता है अतः प्रत्येक दृष्टि से उसमें कारकता है किन्तु अन्य किसी कारक में प्रत्यक्ष रूप से क्रिया का जनक होने की क्षमता नहीं है। 'रामः लेखिन्या लिखति' में क्रिया का साक्षात् निष्पादक राम ही है। लेखनी करण के रूप में परम्परया क्रिया की निष्पत्ति कर रही है। यदि राम न हो तो केवल लेखनी की सत्ता से लेखन क्रिया सम्भव नही। इतना ही नहीं, क्रिया के साथ अन्वयित्व को कारकत्व मानने पर कर्म भी जहाँ प्रत्यक्ष कारक होता है वहीं निष्पादकत्व को कारकत्व मानने पर उसकी भी प्रत्यक्ष कारकता समाप्त हो जाती है। वस्तुतः नामपद का क्रियापद से सम्बन्ध निष्पादकता तक ही सीमित नहीं, अन्वय ही उसका मूल सम्बन्ध है। अतः कारक-सम्बन्धों के निर्धारण का आधार क्रिया के साथ अन्वय को ही मानना समीचीन प्रतीत होता है।

क्रिया का अर्थ फल और व्यापार दोनों स्वीकार किया गया है। अतः नामपद से जिस अर्थ की प्रतीति होगी वह फल एवं व्यापार से भिन्न होगा। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' के सिद्धान्त के अनुसार एक शब्द का अर्थ दूसरे शब्दों के अर्थ से भिन्न होता है। यदि ऐसा न मानें तो अनेक शब्दों की शक्ति एक ही अर्थ में हो जाएगी और तब अर्थ-निर्धारण के लिये अलग-अलग कारण मानने पड़ेंगे। अदि अर्थ-निर्धारण का कोई अलग कारण या आधार न माना जाय तो भाषा में अव्यवस्था आ जाएगी तथा वक्ता का तात्पर्य श्रोता कथमपि ग्रहण नहीं कर सकेगा। इस अव्यवस्था से बचने के लिये यह आवश्यक है कि शब्द की शक्ति एक ही अर्थ में मानी जाए और 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया जाय।

---

१. शास्त्री, सदाशिव शर्मा; परमलघुमंजूषा की अर्थदीपिका टीका; पृ० ६१

इस सिद्धान्त को स्वीकार करने के बाद पाणिनीय व्याकरण में कारक-सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि क्रिया के व्यापार एवं फल की प्रतीति चूँकि धातु से होती है इसलिये नामपदों का अर्थ व्यापार एवं फल से भिन्न साथ ही उनसे अन्वय के योग्य ही हो सकता है। पाणिनीय परम्परा में परिगणित छह कारकों—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण—में कर्त्ता को धातु के व्यापारांश का आधार माना गया है। अर्थात् धातु से जिस व्यापार का बोध होता है उसे करने वाला कर्त्ता है। भर्तृहरि का मत है कि धातु में जब व्यापार अर्थ की मुख्यता होती है तो कारक में कर्त्ता अवश्य होता है, 'धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते।' नागेश ने भी कर्त्ता का लक्षण बताते हुए कहा है, 'प्रकृतधातुवाच्यव्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम्।'[1] अर्थात् किसी प्रसंग में प्रयुक्त धातु के द्वारा वाच्य व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है। इस लक्षण में 'प्रकृतधातुवाच्य' और 'व्यापाराश्रय' ये दोनों पद ध्यातव्य हैं। यों तो किसी भी वाक्य में प्रयुक्त अनेक शब्द किसी न किसी धातु का व्यापाराश्रय होने की क्षमता रखते हैं किन्तु सभी कर्त्ता नहीं हो सकते। कर्त्ता केवल उसी व्यापार के आश्रय को कहते हैं जो उस विशिष्ट प्रसंग में प्रयुक्त धातु का वाच्य हो। जैसे 'रामः बालकाय पुस्तकं ददाति' में ददाति के 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनानुकूल' व्यापार का आश्रय राम है अतः वही कर्त्ता है। 'बालकाय' पद जिस व्यापार का आश्रय हो सकता है, वह प्रकृत धातु का वाच्य नहीं है अतः वह कर्त्ता नहीं हो सकता।

व्यापार के आश्रय को कर्त्ता मान लेने पर व्यापाराश्रयत्व के स्वरूप में भेद पर ध्यान देना भी अपेक्षित प्रतीत होता है। प्राथमिक अथवा मूल रूप में कर्त्ता व्यापार का साक्षात् आश्रय होता है। ऐसे वाक्य में एक ही क्रिया होती है। जैसे, 'रामः हरिं सेवते' 'बालकः पुस्तकं पठति' इत्यादि। इस प्रकार के स्थलों में, जहाँ कर्तृत्व असंदिग्ध हो, कर्त्ता 'शुद्ध कर्त्ता' कहा जाता है।

कर्तृत्व की दूसरी अवस्था वह है जहाँ व्याकरणिक कर्त्ता स्वयं कार्य न करके किसी दूसरे को कार्य करने के लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार वह प्रेरणा का कर्त्ता तो होता है किन्तु वास्तविक क्रिया का कर्त्ता नहीं होता इसलिये उसे प्रयोजक या प्रेरक कर्त्ता की संज्ञा दी जाती है। सैद्धांन्तिक दृष्टि से ऐसे कर्त्ता को कर्त्ता मानने में कोई आपत्ति नहीं दीखती। ऐसे वाक्यों की संरचना में भी प्रधानता मूल क्रिया की न होकर प्रेरणा की ही होती है।

---

१. नागेश; परमलघुमंजूषा; कारकविचार; पृ० ६१

अतः वास्तविक क्रिया यद्यपि कोई और निष्पन्न करता है, कर्तृत्व प्रेरक या प्रयोजक में ही माना जाता है जैसे 'कृष्णः बालकं गमयति', 'गुरुः शिष्यं पाठयति'।

अकर्मक धातुओं में कर्तृत्व एवं कर्मत्व का आधान पृथक्-पृथक् न होकर एकत्र ही होता है। वस्तुतः अकर्मक धातुओं की अकर्मकता इसी बात पर आधारित होती है कि व्यापाराश्रय एवं फलाश्रय अलग-अलग न होकर एक होते हैं। किन्तु फल एवं व्यापार के एकत्र आश्रय का व्यवहार जब सकर्मक धातुओं के साथ होता है तब वह वास्तविक अथवा व्यावहारिक स्थिति न होकर विशुद्ध भाषिक स्थिति होती है। जैसे 'रामः ओदनं पचति' में राम व्यापाराश्रय है एवं ओदन फलाश्रय किन्तु 'ओदनः पच्यते स्वयमेव' में ओदन व्यापार एवं फल दोनों का आश्रय हो जाता है, यह केवल भाषिक अवस्था है। व्यवहार में ओदन कदापि व्यापार एवं फल दोनों का आश्रय नहीं हो सकता। वास्तविक कर्त्ता की उदासीनता तथा ओदन की अक्लिष्टपच्यता को ज्ञापित करने के लिए इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के समस्त प्रयोगों में कर्म पर कर्तृत्व का आरोप किसी न किसी विशेष प्रयोजन से होता है। पहले उल्लिखित शुद्ध कर्त्ता तथा प्रयोजक कर्त्ता के अतिरिक्त भाषिक प्रयोगों के आधार पर कर्म-कर्त्ता के रूप में कर्त्ता का एक अन्य भेद भी स्वीकार करना पड़ता है।

पाणिनि ने कर्म का लक्षण करते हुए कहा है 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' अर्थात् कर्त्ता को जो सर्वाधिक ईप्सित हो वह कर्म है। कर्त्ता को व्यापार के द्वारा फलप्राप्ति की ईप्सा होती है इसलिये कर्त्ता के ईप्सिततम को कर्म कहा गया। वस्तुतः यहाँ ईप्सिततम का अर्थ सर्वाधिक ईप्सित न लेकर धात्वर्थ फल का आश्रय हो जाता है। फलाश्रय होने के कारण कर्म कर्त्ता को प्रिय होता है अतः लक्षणा करके फलाश्रय को ईप्सिततम कहा गया। यदि लक्षणा न करके ईप्सिततम का वाच्यार्थ लिया जाय तो अनेक स्थलों पर कर्मत्व मानना असम्भव होगा, जैसे 'रामः विषं भुंक्ते' अथवा 'बालकः ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति'। इन उदाहरणों में राम को विष-भोजन या बालक को तृणस्पर्श ईप्सिततम नहीं है। परिस्थिति-विशेष में विष-भोजन को ईप्सिततम माना भी जाय तो सर्वत्र नहीं माना जा सकता। विष या तृण की कर्मता तो इसी में है कि वे प्रकृत धातुवाच्य फल के आधार हैं। कर्म की धारणा पाणिनि की दृष्टि में भी क्रियाजन्य फल का आश्रय ही प्रतीत होती है क्योंकि एक ओर जहाँ वे ईप्सिततम को कर्म कहते हैं वहीं दूसरी ओर

अनीप्सित को भी, 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' (अष्टाध्यायी, १.४.५०)। ईप्सित तथा अनीप्सित की व्याख्या यदि इस प्रकार की जाय तो यह विरोध समाप्त हो जाता है—प्रकृत धातु से वाच्य फल का आश्रय, चाहे वह कर्त्ता का ईप्सित हो या अनीप्सित, कर्म होता है। इस निष्कर्ष की पुष्टि कौण्डभट्ट की निम्नलिखित पंक्ति से भी होती है 'ईप्सितानीप्सितत्वयोः शाब्दबोधे भानाभावेन संज्ञायामेव तदुपयोगो न तु वाच्यकोटौ तत्प्रवेशः। तात्पर्य यह कि कर्म का शाब्दबोध होने में ईप्सितत्व या अनीप्सितत्व की प्रतीति नहीं होती। ये शब्द केवल पारिभाषिक महत्त्व रखते हैं। कर्म का बोध फलाश्रय के रूप में होता है ईप्सित या अनीप्सित के रूप में नहीं।

भाषिक प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए भर्तृहरि ने कर्म के सात भेद माने हैं—निर्वर्त्य, विकार्य, प्राप्य, उदासीन, अनीप्सित, संज्ञांतर से अनाख्यात एवं अन्यपूर्वक। क्रिया के फल का आश्रय जब कोई ऐसी वस्तु हो जिसकी सत्ता उसी व्यापार के कारण हो रही है और जो उस व्यापार के पूर्व सत्ता-हीन रही है तो फलाश्रय को निर्वर्त्य कर्म की संज्ञा दी जाती है, जैसे 'घटं करोति'। विकार्य कर्म की विशेषता यह है कि वह किसी वस्तु के नष्ट होने पर उत्पन्न होता है अथवा मूलप्रकृति में कतिपय गुणों की उत्पत्ति के कारण क्रिया का फलाश्रय हो जाता है। निर्वर्त्य एवं विकार्य कर्म में भेद केवल इतना है कि निर्वर्त्य में व्यापार के कारण फलाश्रय की उत्पत्ति होती है जबकि विकार्य में व्यापार के कारण कर्म के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है जैसे 'काष्ठं भस्म करोति'।

यह अनिवार्य नहीं कि क्रिया के कारण कर्म में कुछ परिवर्तन हो ही जब कर्म निर्विकार रहता है तो उसे प्राप्य कर्म की संज्ञा दी जाती है। जैसे 'घटं पश्यति'। अनीप्सित कर्म को अनीप्सित इसलिये कहते हैं कि ये जिस फल के आश्रय होते हैं वह कर्त्ता को मुख्य रूप से ईप्सित नहीं होता। कर्त्ता प्रासंगिक रूप में या बलपूर्वक जो व्यापार करता है, उसके फल का आधार होने के कारण उनकी कर्मता तो हो जाती है किन्तु कर्त्ता को बहुत अभिमत नहीं होने के कारण उन्हें ईप्सित नहीं माना जाता। वाक्यपदीयकार ने अनीप्सित कर्म के पुनः कई भेद किये हैं। इच्छा अनिच्छा से निरपेक्ष, उदासीन भाव से किये गये व्यापार का फलाश्रय उदासीन कर्म कहा जाता है। 'ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति' में कर्त्ता का ईप्सित है ग्राम-गमन न कि तृण का स्पर्श। वह अन्यमनस्क भाव से तृण का स्पर्श भी करता जाता है। स्पर्श

का फलाधार होने पर भी कर्त्ता की अन्यमनस्कता के कारण ऐसे कर्म को उदासीन कर्म कहते हैं।

अनिच्छा से किये गए कार्य का फलाधार द्वेष्य या कर्तुरनीप्सित होता है। जैसे 'विषं भुंक्ते' में विष कर्त्ता का अनीप्सित द्वेष्य कर्म ही है।

कर्त्ता एवं कर्म क्रिया के साक्षात् उपकारक होते हैं अतः क्रिया के साथ उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अन्य कारकों का क्रिया के साथ सम्बन्ध कर्त्ता वा कर्म के माध्यम से हुआ करता है। अतः उनकी कारकता भी गौण कारकता की कोटि में आती है। कर्त्ता एवं कर्म के बाद करण क्रिया की निष्पत्ति में सर्वाधिक सहायक होता है। कौण्डभट्ट ने इसे 'अव्यवधानेन फल-जनकव्यापारवान्' कहा है। जिसके व्यापार के बाद क्रिया के फल की निष्पत्ति हो, उसे ही करण कहेंगे। जहाँ जिसके व्यापार के बाद फल की प्राप्ति हो जाय वही करण हो जाता है। जैसे 'कन्दुकेन क्रीडति' में खेलने का फल कन्दुक के उठने-गिरने के बाद, 'छुरिकया छिनत्ति' में काटने का फल छुरी के चलने के तुरत बाद एवं 'कलमेन लिखति' में लिखने का फल कलम चलने के तुरत बाद प्राप्त होता है। अतः वे तत्तद् प्रकरणों में करण हो जाते हैं। करण सदा विवक्षाधीन होता है। 'स्थाल्या पच्यत' जैसे स्थलों में स्थाली का करण की तरह प्रयोग यही प्रमाणित करता है। भर्तृहरि की निम्नलिखित कारिकाओं से भी इसी मत की पुष्टि होती है

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम्॥
वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम्।
स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः॥

सम्प्रदान का वाच्यार्थ तो सम्यक् प्रदान है किन्तु व्याकरण में इस शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में हुआ है। कारक के संदर्भ में सम्प्रदान का अर्थ है कर्म द्वारा अभिप्रेत 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (अष्टाध्यायी १.४.३२)। 'बालकाय मोदकं क्रीणाति' जैसे प्रयोग में क्रीणाति का फलाधार मोदक है जो बालक के प्रति उद्दिष्ट है। फल का जो उद्देश्य हो उसे ही सम्प्रदान कहते हैं। उद्देश्य के विषय में भैरवमिश्र[1] ने 'परीक्षा' टीका में लिखा है कि 'एवं च क्रियाकर्मसम्बन्धजन्यफलवत्वेनेच्छाविषयो यः स एव

---

१. मिश्र, भैरव; वैयाकरण भूषणसार की परीक्षा टीका; पृ० १८५

उद्देश्यपदेनोच्यते । यहाँ ध्यातव्य है कि उद्देश्य होने के लिये इच्छा का विषय होना पर्याप्त नहीं है अपितु क्रिया तथा कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न इच्छा का विषय होना चाहिये । किसी न किसी रूप में इच्छा की सत्ता तो कर्त्ता तथा कर्म में भी होती है । अतः केवल इच्छा का विषय मानने पर वे भी उद्देश्य की कोटि में आ जाएँगे । किन्तु ऐसा नहीं होता । केवल सम्प्रदान ही उद्देश्य होता है क्योंकि वह क्रिया तथा कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न फलवत्ता के कारण इच्छा का विषय होता है ।

वृत्तिकार इससे सहमत प्रतीत नहीं होते क्योंकि उन्होंने सम्प्रदान की अन्वर्थ संज्ञा की है और 'सम्यक् प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्' कहा है । उनका विचार है कि स्वस्वत्वनिवृत्ति सम्प्रदान है और इसीलिये वे 'रजकाय वस्त्रं ददाति' को अनुपपन्न मानकर 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' प्रयोग को उपपन्न मानते हैं । किन्तु ऐसी व्याख्या करने के समय वृत्तिकार का ध्यान सम्भवतः इस बात पर नहीं गया कि 'दा' धातु के संदर्भ में सम्प्रदान का यह लक्षण तो समीचीन है किन्तु अन्य धातुओं के संदर्भ में यह किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता । इस व्याख्या के अनुसार 'बालकाय मोदकं क्रीणाति' जैसे प्रयोगों में सम्प्रदानता नहीं हो सकेगी क्योंकि इसमें स्वस्वत्व की निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः सम्प्रदान का विश्लेषण करने के समय दो तथ्यों को सामने रखना उचित है—प्रथम यह कि सम्प्रदान कर्म के द्वारा ईप्सित होता है और द्वितीय यह कि क्रिया एवं कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न फलवत्ता उसमें होती है ।

सम्प्रदान के तीन भेद अर्थ की सूक्ष्मता की दृष्टि से किये जाते हैं । (१) अनिराकरणात्मक, जिसमें कर्म के द्वारा ईप्सित होने में उसका न तो कोई सक्रिय सहयोग होता है और न विरोध जैसे, 'सूर्याय अर्घ्यं ददाति ।' (२) सम्प्रदान के दूसरे भेद को प्रेरक सम्प्रदान कहते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वह कर्त्ता को कार्य करने के लिये प्रेरित करता है, जैसे 'विप्राय गां ददाति' । (३) जब क्रिया के लिये सम्प्रदान की अनुमति की अपेक्षा हो तो उसे अनुमंतृ सम्प्रदान कहते हैं, जैसे 'उपाध्यायाय दक्षिणां ददाति' ।

अपादान शब्द का अर्थ ही होता है अलग होना । अतः जहाँ कहीं भी अलग होने की क्रिया होगी वहाँ अपादान कारक भी अवश्य होगा । जो व्यक्ति अलग होता है वह कर्त्ता होता है अतः जहाँ से अलग हुआ जाता है

उसे ही अपादान मानना समीचीन है। पाणिनि के सूत्र 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (१.४.२४) से इस मत की पुष्टि होती है। विश्लेषण की क्रिया में जो ध्रुव अर्थात् स्थिर हो वह अपादान है। भर्तृहरि निम्नलिखित कारिका में अपादान की स्थिति को पूर्णतः स्पष्ट करते हैं—

अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाचलम्।
ध्रुवमेवाऽतदावेशात्तदापादानमुच्यते ॥

'उदासीन' का प्रयोग भर्तृहरि ने इस प्रसंग में अनाश्रय के अर्थ में किया है। विश्लेष की क्रिया में जो उदासीन हो अर्थात् जो विश्लेष की क्रिया का आश्रय न हो—वह चल हो या अचल अर्थात् गतिशील हो या स्थिर-अपादान होता है। पाणिनि के लक्षण में अपादान की स्थिरता या गतिशीलता का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं होता किन्तु भर्तृहरि ने इस संदेह का निराकरण कर दिया है। इसीलिये 'वृक्षात् पत्रं पतति' में जहाँ स्थिर वृक्ष अपादान है वहीं 'धावतः अश्वात् पतति' में गतिशील अश्व की अपादानता में भी कोई व्याघात नहीं आता। अपादान की ध्रुवता विश्लेष की क्रिया के संदर्भ में ही देखी जानी चाहिये, उसकी अपनी गतिशीलता के सन्दर्भ में नहीं।

प्रत्येक क्रिया का कुछ न कुछ आधार अवश्य होता है। कोई भी क्रिया निराधार नहीं हो सकती। अतः क्रिया का जो आधार हो उसका भी क्रिया से अन्वय मानना युक्तियुक्त है। इसी कारण आधार को भी कारक माना गया एवं उसकी संज्ञा दी गई अधिकरण 'आधारोऽधिकरणम्' (अष्टाध्यायी १. ४. ४४) कर्ता एवं कर्म भी आश्रय होते हैं और अधिकरण भी। किन्तु कर्त्ता एवं कर्म की आश्रयता एवं अधिकरण की आश्रयता में तात्त्विक भेद है। व्यापार का मुख्य आश्रय कर्ता एवं फल का मुख्य आश्रय कर्म निर्धारण कर देने के बाद परम्परया जो क्रिया की निष्पत्ति का आधार होता है उसे ही अधिकरण कहते हैं। जैसे 'रामः स्थाल्याम् ओदनं पचति'। इस वाक्य में राम व्यापाराश्रय है और ओदन फलाश्रय, स्थाली गौण रूप से व्यापार तथा फल दोनों का आश्रय है क्योंकि राम स्थाली में व्यापार कर रहा है एवं व्यापार का फल भी स्थाली में ही मिल रहा है। इसी प्रकार 'गृहे वसति' में रहने की क्रिया और फल, दोनों गृह में ही होते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौण रूप से व्यापार तथा फल दोनों का आश्रय अधिकरण होता है।

अधिकरण का आधारत्व तीन प्रकार का हो सकता है—औपश्लेषिक, अभिव्यापक और वैषयिक। दो वस्तुओं का संयोग या सम्पर्क होने पर जो

आधार हो वह औपश्लेषिक, जैसे 'कटे शेते'। जब संयोग आधार एवं आधेय के एकदेश में सीमित न होकर सम्पूर्ण में व्याप्त हो तो अभिव्यापक, यथा 'तिलेषु तैलम् अस्ति' एवं विषयता सम्बन्ध से जब कोई आधार हो तो वैषयिक यथा 'मोक्षे इच्छा अस्ति'।

पाणिनि द्वारा चर्चित सभी कारकों के लिए अष्टाध्यायी में अलग-अलग विभक्तियों का विधान किया गया है। आधुनिक युग में भी विभक्ति प्रयोगों का बहुशः विश्लेषण किया गया है किन्तु इस ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया कि वक्ता को जिस कारक की प्रधानता ईप्सित होती है उसे वह प्रथमा में अभिव्यक्त करता है। प्रथमा विभक्ति के प्रयोग-स्थलों का विवेचन करने पर यह प्रकट होता है कि प्रातिपदिकार्थ आदि के अतिरिक्त इसका प्रयोग वाक्य के प्रधान कारक के लिए भी होता है। वस्तुतः प्रथमा के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में कारकों का प्रयोग उनकी अप्रधानता को ही द्योतित करता है। पाणिनि ने स्वयं कारकों के साथ विभक्तियों का विधान करने के प्रसंग में 'अनभिहिते' का अधिकार रखा है। अनभिहित का अर्थ है अप्रधान, अतः अनभिहिते के अधिकार में विहित विभक्तियों का स्पष्ट अर्थ है कि कर्म में द्वितीया, करण में तृतीया, अधिकरण में सप्तमी आदि तभी होती है जब वाक्य में ये प्रमुख न हों। स्वभावतः प्रमुखता होने पर किसी दूसरी विभक्ति का प्रयोग होगा और यद्यपि पाणिनि ने सर्वत्र इसका शब्दशः निर्देश नहीं किया फिर भी प्रयोग के आधार पर हम जानते हैं कि मुख्यता का अभिधान करने की स्थिति में प्रयुक्त होने वाली विभक्ति प्रथमा है। विभक्तियों द्वारा कारक का द्योतन इस निबन्ध के सीमित आयाम में चर्चा का विषय नहीं हो सकता इसलिये इस विषय का विश्लेषण यहाँ नहीं किया गया, किन्तु यह समस्या विचारणीय है और सम्यक् चर्चा की अपेक्षा रखती है।

अर्थबोधे विघ्नकारणानि

डा. योगेश्वरदत्तशर्मा

अनादित्वाच्छब्दानां स्वायम्भुवो मनुः कथयति यद् भगवता ब्रह्मणा सर्वेषां पदार्थानां पृथक्-पृथक् कर्माणि संज्ञाश्च निर्दिष्टाः। तेषां शब्दानां वृत्तिज्ञानेन[1] तेषामर्थो गृह्यते। एवं व्याकरणेन, उपमानेन, कोषेण, आप्त-वाक्येन, व्यवहारेण, वाक्यशेषेण, विवरणेन, ज्ञातपदस्य साहचर्येण च शक्तिग्रहत्वादर्थज्ञानं भवति। ईदृशेष्वर्थज्ञानसाधनेषु तानि कारणान्यपि सन्ति येषां सत्तया शब्दानामर्थज्ञानं न भवति। नागेशानुसारं शब्दशक्तेर्ज्ञानं तत्र मुख्यं व्याकरणम्। शक्तिरत्र वृत्तिशब्देनाभिहिता। यावच्च शब्दार्थज्ञानात्मकं वृत्तिज्ञानं न जायते तावच्छब्दार्थस्य ज्ञानमपि न जायते[2]।

इदं तूक्तपूर्वमेव यच्छब्देषु स्वाभाविकी शक्तिर्वर्तते यया तेऽर्थं बोधयन्ति। तेषां शक्तिज्ञानाभावेऽर्थो न प्रतीयते। शब्देष्वर्थः स्वाभाविक एव परं बालस्तु तमर्थं वृद्धव्यवहाराऽऽवापोद्वापैः साक्षादुपदेशेन वा गृह्णाति। शब्दांश्च सार्थकान् मन्यते। यश्च प्रकारो बालकाय स एवाऽऽबालवृद्धेऽपि। यावत् प्रचलितशब्दानां शक्तिज्ञानं न भवति नहि तावत् तेषु शब्देषु बहुशः श्रुतेष्वप्य-र्थोपस्थितिर्वर्तते। प्रत्येकं देशे भाषायां वा सहस्रशः शब्दाः स्वस्व-स्थानेषु प्रचलिताः सार्थकाश्च सन्ति। परं यो जनः तेषां शक्तिं न बोधति न स तेषामर्थमपि जानाति। अतः शब्दशक्तिबोधाभाव एवार्थज्ञाने मुख्यो विघातको हेतुः।

शब्दशक्तेर्ज्ञानाभावातिरिक्तानि यानि कारणान्यर्थबोधे विघातकानि तान्यत्र दीयन्ते।

१. शब्दशक्तेर्विस्मरणम्-पूर्वं तु शब्दस्यार्थो ज्ञातः परं परस्मिन् समये विस्मृतः तदार्थज्ञानं न भवति।

---

१. तत्रागृहीतवृत्तिकस्य शाब्दबोधादर्शनाद्-परमलघुमंजूषा। पृ० २७

२. तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपित वृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुः। तत्रैव०। पृ० २७

२. तद्वाचकपदस्य ज्ञानाभावः यथा कलशो घटवाचकोऽस्ति ।

परं यावत् कलशस्य घटवाचकत्वं न ज्ञायते तावत् कलशशब्दस्यार्थज्ञानं न भवति ।

३. यथार्थस्य ज्ञानाभावः—घटेनाऽऽकाशस्याऽऽकाशस्य घटेन ज्ञानं न जायते ।

शब्दो हि स्वार्थमेव बोधयति न तु स्वाश्रयं स्वकर्तारं वा । घटस्याश्रयस्त्वाकाशोऽप्यस्ति परं स तस्य वाच्यार्थो नास्ति । एवं चैत्रादिर्घटस्य कर्ताऽपि घटस्य वाच्यार्थो न सम्पद्यते ।

४. संस्कारोद्बोधनस्याभावः । यावद् घटेन घटसम्बन्धिसंस्कारा जागरिता न भवन्ति तावत् तेनार्थज्ञानं न भवति । वस्तुतस्तु पुनः पुनः स्मरणात् संस्कारो दृढो[1] भवति ।

महर्षिपतञ्जलिमतेऽर्थानुपलब्धेः षट् कारणानि ।

१. अतिसन्निकर्षः—अतिसामीप्यात् स्वनेत्रगताञ्जनस्य दर्शनं न भवति ।

२. अतिविप्रकर्षः—अतिदूरत्वादुड्डीयमानस्य विहगस्य दर्शनं न भवति

३. मूर्त्यन्तरव्यवधानम्—भित्तेर्व्यवधानेन भित्तिपरकवस्तुदर्शनं न भवति

४. आवरणम्—अन्धकारस्यावरणाद् गर्तादिकस्यानुपलब्धिः ।

५. इन्द्रियदौर्बल्यम्—तिमिररोगिणो वस्तुदर्शनाभावः ।

६. अतिप्रमादः—चित्तस्य विषयान्तरासक्तत्वादर्थस्यानुपलब्धिः[2] ।

एषु षट्सु कारणेषु कस्याप्येकस्य सत्त्वादर्थानुपलब्धिः । कैयटनागेशाभ्यां चाक्षुषप्रत्यक्षानुपलब्धौ यानि कारणानि कथितानि तान्येवशाब्दबोधानुपलब्धौ कारणान्यपि सन्ति । व्याप्तिमत्वाच्छब्दः श्रोत्रयोर्वर्तते परं तेनार्थज्ञानं न जायते । अतिदूरोच्चरितशब्दस्याश्रवणादर्थबोधो न भवति । कस्यापि वस्तुनो व्यवधानाच्छब्दश्रवणाभावादर्थज्ञानं बाध्यते । अज्ञानावरणाच्छाब्दबोधो न सम्पद्यते, श्रवणेन्द्रियस्य दुर्बलत्वाच् चित्तस्यानासक्तत्वाच्चार्थज्ञानं न ।

विषयान्तरे मनः स्थित्याऽर्थज्ञानं न भवतीत्युदाहृतं पतञ्जलिना । तथाहि वैयाकरणः शाकटायनो रथमार्गे स्थितः तत्र गच्छतां शकटानां समूहं पश्यन्नपि नापश्यत् । स च जागृत आसीत्, कथं पश्यन्नपि नापश्यत् अत्र स्वयमेवाहाचार्यः—यदेन्द्रियाणि मनसा सम्बद्धानि स्युस्तदैव ज्ञानस्योदयो भवितुमर्हति

---

१. जायते च पुनः पुनः स्मरणाद् दृढतरः संस्कारः - मंजूषा-पृ० १६

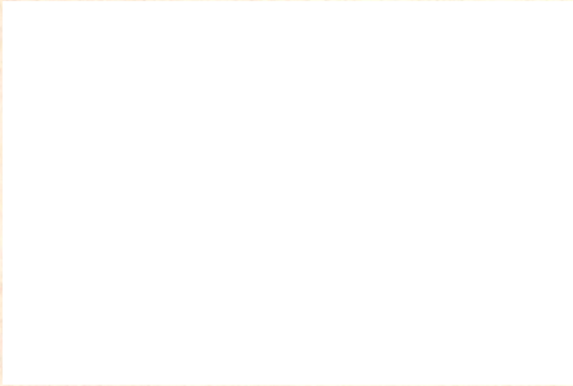
२. षड्भिः प्रकारैः सतां भावानामनुपलब्धिर्भवति । महाभाष्यम् ।४।१।३

नान्यथा। शाकटायनस्येन्द्रियाणि वस्तुना सम्बद्धान्यासन् न तु मनसा, अतः स शकटानि पश्यन्नपि नापश्यत्[1]।

शब्दस्य सत्तामात्रेणैवार्थबोधो न जायते। यावत्ते शब्दा बोधविषया न भवन्ति, मनोयुक्तेन श्रवणेन्द्रियेण गृहीता न भवन्ति तावत्ते शब्दा अर्थं न बोधयन्ति।[2]

अतः सम्यक् श्रुतेऽपि शब्दे पुनरभिधीयते किमुक्तमिति? यदि सत्तामात्रेणैव शब्दार्थबोधो भवेत्तदा नैवमुच्यते।

अत्रेदमवधेयम्-शब्दः सत्तामात्रेणार्थप्रकाशको न, परं श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धः सन्नेवार्थं प्रकाशयति। शब्दः स्वरूपमपि प्रकाशयति। इन्द्रियाणि स्वसत्तयैवार्थं प्रदर्शयन्ति। चक्षुर्हि स्वसत्तयैवार्थं बोधयति। एवमिन्द्रियैर्यज्ज्ञानं जायते तेन तेषां स्वरूपग्रहणं न जायते।



१. मनसा संयुक्तानीन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति। मनसोऽसान्निध्यात्। महाभाष्यम्।३।२।११७

२. विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः॥-वाक्यपदीयम्।१-५६

